समर्पण

समस्त मुमुक्षुओ के कर - कमलो

में

सादर समर्पित ।

—स्वामी विशुद्धानन्द परिव्राजक

प्रस्तावना

समस्त भौमिक विद्वानो को भारतीय दर्शन की गहनता का अल्पसा पता तो है ही साथ मे थोडा सा यह भी पता होगा ही उपनिषद् दर्शन ने दार्शनिक गगन की जो ऊँचाई मापी है इस ऊँचाई तक कोई दर्शन नही पहुँचा। विचार जहाँ से आगे जा ही नही सकता विचार का जहाँ कचूमर निकल जाता है वह अपना स्वरूप उपनिषदो जितना स्पष्ट कही देखने को नही मिलता। वेद का निष्कर्ष उपनिषद् है इसलिये उपनिषदो को ही वेदान्त कहा जाता है। माण्डूक्योपनिषद् भी इन उपनिषदो मे अत्यन्त सम्मानीय स्थानीय स्थान रखती है। अत्यल्प होते हुए भी विषय विवेचन म इसकी उपमा किसी उपनिषद् से नही दी जा सकती।

श्री गौडपादाचार्य ने अपने दार्शनिक विचारो का मूल इसी उपनिषद् मे पाकर इसके ऊपर कारिकायें लिखकर अद्वैत वेदान्त की आधार शिला रखी, जिसके ऊपर श्री शकराचार्य ने वेदान्त का महल खडा किया। आगे भी वेदान्त विषय पर जो आगे चलकर ब्रह्म सूत्र मात्र मे रूढ हो गया अनेक ग्रन्थ लिखे गये तथा अनेक सिद्धान्त खडे हुए। परन्तु वेदान्त मुख्य रूप से अद्वैत प्रतिपादक ही अन्य दार्शनिको द्वारा पूर्व पक्ष रुप मे स्वीकार किया गया है। आगे चलकर शाकर वेदान्त साहित्य पर उनके प्रतिपादक इतने ग्रन्थ लिखे गये जिनकी गणना भी असम्भव नही तो कठिन अवश्य है।

परन्तु गौडपादाचार्य जी ने जिस ब्रह्म को प्रतिपाद्य विषय बताया है वह बौद्ध धर्म का शून्य ही है और शकराचार्य ने जिस ब्रह्म की व्याख्या की है वह विज्ञानवाद के समीप है।

हमारा तात्पर्य गौडपाद या शकर को बौद्ध सिद्ध करना नही है अपितु उनके दार्शनिक विचारो पर बौद्ध धर्म का प्रभाव मात्र दिखाना है। भगवान शकराचार्य ब्राह्मणवाद के महान प्रतिपादक है जबकि भगवान बुद्ध मानवता वाद के पुजारी है इसलिए शकर और बुद्ध आचार मे, व्यवस्था मे एक दूसरे से अत्यन्त दूर दो न मिलने वाले किनारे ही हैं। भगवान बुद्ध मनुष्य-मात्र के लिए है जबकि शकर उसको ब्राह्मणो तक ही सीमित रखने के पक्ष-पाती हैं। और तो और अपने आपको गढ़ करने से भी नही चूक पाए कि बुद्धि केवल ब्राह्मणो से ही आती है।

मंगलाचरण

ॐ भद्र कर्णेभि. शृणुयाम देवा
भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा. ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा सस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहित यदायु ॥

× × ×

हे देव कान से शुभ्र सुने
नयनो से देखे शुभ्र सदा ।
हो अग स्वस्थ यथार्थ देह
सम्तुति देवार्थ हो आयु प्रभा ॥

* अथ प्रथम आगम प्रकरणम् *

॥ ओ३म् ॥

श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मश्रोत्रिय
स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी महाराज

हरि ॐ । ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।।1।।

आप और आपके सन्मुख केवल इन्ही दो द्रष्टा और दृश्य मे सब कुछ समाया हुआ है। आप और आपके सामने इन दोनो को अभिधेय कोटि मे ग्रहण कर लिया जाये तो अभिधेय और अभिधान इन्ही दो अभिव्यञ्जको मे सारा खेल विराजमान है। इनको और सरल कर दिया जाये तो वाच्य और वाचक मे सारा ज्ञान समाया हुआ है।

क्योकि वाच्य वाचक केवल अभिव्यक्त्यर्थ द्रव्य नामात्मक दो आरोपित कल्पना विज्ञानार्थ ही है अन्यथा पदार्थ और पद एक सत्य मात्र ही है। इसी रहस्य का बोधार्थ प्रतीक ओ३म् है, जिसके माध्यम से जिज्ञासुओ को स्वकल्याणार्थ एक मात्र आत्म ज्ञान का उपदेश प्रदान किया जाता है। साधन चतुष्टय सम्पन्न ऊहापोह विचक्षण जिज्ञासु वृन्द का ही आत्मविद्या मे अधिकार है। आत्म विद्या का और अधिकारी का सम्बन्ध प्राप्य प्रापक कहा जाता है। ब्रह्मात्मैक्य बोध ही इस उपनिषद् विद्या का विषय है, स्वस्वरूप बोध पूर्वक द्वैत भ्रान्ति निवृत होकर अद्वितीय आत्मानन्द जो नित्य प्राप्त की प्राप्ति है, यही एक मात्र वेदान्त विद्या का प्रयोजन है।

जिस प्रकार आयुर्वेद मे रोग, रोग का निदान रोग की दवा तथा रोग निवृत्ति चार प्रकरण कथन किये जाते है। उसी प्रकार आध्यात्मिक शास्त्रो मे भी दुख, दुख का कारण, दुख के कारण का निरोध रूप उपाय तथा स्वस्थपना रूप दुख निवृत्ति चार ही विषयो का विवेचन है। ससार अथवा इसका व्यष्टि स्वरूप देह दुखो का आगार दुखालय माना गया है। जिस प्रकार रेगिस्तान मे रेत ही रेत है, जिस प्रकार अग्नि ताप का ही नाम है उसी प्रकार देह दुख का दूसरा

नाश है। इसके बालकपन में असमर्थता, इसकी जवानी में भोगेच्छा और इसकी वृद्धावस्था में चिन्ता का डेरा लगा हुआ है।

अनेक प्रकार के रोग तथा अनेक प्रकार के ताप यदि शरीर के रोम-रोम में विराजमान नहीं हैं, तो इसका नाम देह क्यों रखा जाता 'दहतीति देह"। सदा ही परिवर्तनशील, कदापि एकरस न रहने वाला "शीर्यतीति शरीर" अपने परिवर्तनों के द्वारा सदा अपने धारक में परिवर्तन की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला सचमुच अविद्या का पारस्परिक अन्तिम परिपाक में तन धारक के सम्मुख अपने स्वरूप में दुख ही परोसता रहता है।

यदि शरीर ही दुख है तो इसका परित्याग करने में क्या कठिनाई है? किसी भी प्रकार इसका अन्त किया जा सकता है? और इस प्रकार दुख का अन्त हो जायेगा।

ठीक है शरीर का अन्त करना तो कठिन नहीं परन्तु शरीर प्रदान कराने वाली वासना का परित्याग किए बिना शरीरों की शृङ्खला से अवकाश कदापि नहीं मिल सकता। इस वासना की निवृत्ति होने से ही शरीर रहते हुए भी न रहने के समान हो जाता है।

स्वप्न में जिस प्रकार स्थूल शरीर के सम्बन्ध का परित्याग सा हुआ रहता है फिर भी वासना वश शरीर की प्रतीति तथा दुख की उपस्थिति बनी रहती है उसी प्रकार इस तन का अन्त करने के उपरान्त भी वासनावश द्वितीय शरीर बनने में क्या देर लगती है। इस लिए वासना की निवृत्ति परमावश्यक है।

फिर मनुष्य शरीर तो आत्म ज्ञान प्राप्ति हित अत्यन्त उपयोगी क्षेत्र है, इसका अन्त करना तो फल प्राप्ति हित पुष्पों का निवृत्त करने की भाँति है। यह नाव तो भवसागर पार ले जाने में अत्यन्त आवश्यक है, इसका विनाश तो सोचना भी शोचनीय है। दुखों की निवृत्ति चिकित्सालय के विनाश से किस प्रकार सम्भव है।

परन्तु हम समझते हैं संसार में वासना विरहित होना तो अत्यन्त असम्भव है, जो कार्य सम्भव ही नहीं उसके लिए प्रयत्न करना महामूर्खता है?

आपका कथन निःसंशय अनुभव को स्पर्श करते हुए है, बस

समझना इतना है वासना, वासना की जननी नहीं होनी चाहिए, वासना, वासना की निवर्तिका होनी चाहिए। जिस प्रकार क्रोध एक विचार है और क्रोध का निवर्त्तक भी एक विचार है तथा क्रोध का सम्वर्द्धक भी एक विचार है। क्रोध का सम्वर्द्धक विचार क्रोध की सन्तति का विस्तार करने वाला है और क्रोध निरोधक विचार क्रोध सन्तति को निरुद्ध कर देता है। उसी प्रकार वासना को बढाने वाली वासना सासारिक वासना कहलाती है और वासना को निवृत्त करने वाली वासना आत्म ज्ञान वाली वासना है।

फिर भी वासना तो वासना ही है, वासना को निवृत्त करके जो वासना रही वह भी तो बन्धन कारक ही होगी। उसकी निवृत्ति किस प्रकार सम्भव है?

जिस प्रकार निर्मली का चूर्ण जल के मल को निवृत्त करके स्वयं निवृत्त हो जाता है; उसी प्रकार ज्ञान वासना, अज्ञान वासना को निवृत्त करके स्वयमेव निवृत्त हो जाती है। रोग निवृत्ति होती हुई, स्वस्थता की स्वयमेव प्राप्ति हो जाती है। स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थता का अनुभव स्वयमेव करता है, ठीक इसी प्रकार अविद्या निवृत्ति पर स्वस्थता भी स्वय अनुभव का विषय है।

क्या वेद का वास्तविक तात्पर्य आत्म ज्ञान पूर्वक स्वरूप स्थिति मुक्ति वर्णन करने मे ही है अथवा कर्म द्वारा (अर्थात् यज्ञादि द्वारा) स्वर्ग प्राप्ति मे उसकी कृत्कृत्यता है या फिर उपासना द्वारा भगवान की प्राप्ति अथवा भगवद्लोक प्राप्ति मे वेद का तात्पर्य है। हो सकता है भक्ति कर्म समुच्चय या भक्ति ज्ञान समुच्चय अथवा ज्ञान कर्म समुच्चय कल्याण का परम हेतु वेद ने बतलाया हो। ब्रह्म ही केवल सत्य है? जगत ही केवल सत्य है? अथवा जीव का अनेकत्व ही सत्य है? याकि ब्रह्म जीव, ब्रह्म जगत, जगत जीव, अथवा ब्रह्म जगत, जीव इनमे तीन युगम मे से कोई द्वैतवाद या अन्तिम त्रैतवाद सत्य है, वेदान्त वेद्य विषय है। इस प्रकार वेद का सिद्धान्त निर्णय मनीषियो ने अपने-2 मतानुसार किया है इन समस्त शंकाओ का निराकरण होकर स्वस्थता की उपलब्धि वेदान्त का तात्पर्यार्थ है।

आत्मा का श्रवण मनन और निदिध्यासन परम कल्याण का हेतु है। श्रवण द्वारा प्रमाण गत सशय, विपर्यय, असम्भावना त्रयदोष की

निवृत्ति होती है, मनन द्वारा प्रमेयगत संशय विपर्यय और असभावना की निवृति होती है तथा निधि ध्यासन द्वारा अपने आप में आस्था परिपक्व होती है। श्रवण इन आने वाली परम्परा का मूल है।

वेदान्त श्रवण द्वारा अविद्यावृत द्वैत प्रपन्च का उपशमन होकर (क्योंकि वदान्त वेद्य, औपनिषद् पुरुष का ज्ञान अधिष्ठान ज्ञान है जिस अद्वैतात्मा के ज्ञान से कल्पित द्वैत की निवृत्ति होती है, आत्मोपलब्धि रूप स्वस्थता प्राप्त होती है। श्रुति भगवती इस विषय में साक्षी देती है, "यत्र द्वैतमिव भवति तत्र इतर इतर पश्यति, इतर इतर विजानाति"। यत्र त्वस्य सर्वमात्मै वाभूत्केन क पश्येत् केन क विजानीयात्"। अर्थात् जहाँ जिस निश्चय में द्वैत जैसा होता है वहाँ एक दूसरे को जानता है, एक दूसरे को देखता है परन्तु जिस निश्चय में समस्त प्रपन्च आत्म ज्ञान से आत्म रूप ही निश्चित है कौन किसको देखे और कौन किसको जाने।

अद्वैत आत्मा को ही ब्रह्म तथा ओ३म् कहा जाता है। वेद वेदान्तों में तो ओ३म् ही सत्ता का प्रतीक माना गया है ओ३म् ही समस्त मन्त्रों में पूर्व प्रयुक्त होता है। ओ३म् का विस्तार ही गायत्री है तथा गायत्री का विस्तार ही वेद है और वेद का विस्तार ही समस्त विद्या है। ओ३म् ही वाच्य वाचक अभिधान और अभिधेय होता हुआ समस्त प्रपन्च का प्रगटन श्रोत है। ओ३म् ही लक्ष्यार्थ से अमात्रिक अद्वैत आत्मा है। ओ३म् के ज्ञान से ही आत्म ज्ञान होता है। यही अविद्या को निवृत्त करने वाला अद्वैत आत्म ज्ञान है। इसलिए इस प्रणव ओंकार का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

"इदम् सर्वम् अक्षरम्" ये सब कुछ अक्षर है। परन्तु हमें तो क्षर प्रतीत हो रहा है? आपकी प्रतीति का विषय सचमुच क्षर ही है जिसको नाम रूप कहा जाता है। लेकिन जिसके आश्रित यह ज्ञान रूप प्रतीत हो रहा है वह अधिष्ठान अक्षर ही है। यदि उपादान भी क्षर होवे तो वस्तु का पूर्वरूप परित्यक्त होकर नवीन रूप की सृजना अभी न हो, वृक्ष सूख गया अर्थात् साधारण भाषा के अनुसार मर गया, उसका अभाव हो गया परन्तु यदि वह सचमुच मर गया तो उससे अनेक काष्ठ सम्बन्धी वस्तुओं का निर्माण किस प्रकार हो

गया ? इस प्रकार वृक्ष मेज कुर्सियों के रूप में अब भी विराजमान है। तात्पर्य ये है केवल रूप परिवर्तन हो गया मरा नहीं वृक्ष का वस्तुत. अभाव नहीं हुआ।

यह नियम सर्वत्र लगाया जाना चाहिए अगर ऐसा न होता तो' यह जगत कभी का निबट गया होता। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी तथा इनके सम्मिश्रण से बना हुआ प्रपञ्च मूल रूप में अक्षर है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय सभी कुछ अक्षर है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण सभी कुछ अक्षर है। त्रय लोक चौदह भुवन देव, दानव, दैत्य, किन्नर, गधर्व, गुह्यक, सिद्ध, राक्षस, सभी अक्षर है। जितना वर्तमान भूत भविष्य में है, था, होगा सभी कुछ अक्षर है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय; ध्याता, ध्यान, ध्येय; प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय; साधक, साध्य, साधना; गन्ता, गम्य, गमन आदि समस्त त्रिपुटियाँ अक्षर हैं।

यह अक्षर ओ३म् है, सत्ता है, स्वीकृति है। ओ३म् 'सर्वमिदम्' के साथ अपरिवर्तनीय परिवर्तन का हेतु परिवर्तन का धारक और परिवर्तन का परिणाम है। अपरिवर्तनीय ओ३म् के आश्रित परिवर्तन प्रकाशित होता है, प्रकट होता है और लय होता है। परिवर्तन की अमरता इसी अपरिवर्तनीय ओ३म् के कारण है। भाव, अभावात्मक संसार, अज्ञान (आवरण और विक्षेप के रूप में) इसी ओ३म् के आश्रित इसी को ढकता हुआ अन्य रूप में परिवर्तन करता हुआ सा इस अक्षर ओ३म् से अलग और कुछ नहीं। इस प्रकार ओ३म् अर्थात् 'अक्षरमिदं सर्वम्' कहना भी वस्तुतः वही एक बात है।

ओ३म् का उपव्याख्यान ही भूत, भविष्य और वर्तमान काल रूप से है तथा भूत, भविष्य तथा वर्तमान में विराजमान वस्तु रूप में है। समस्त देश भी, दिशायें भी इसी का उपव्याख्यान है। उपव्याख्यान शब्द से एक रहस्य और समझ में आता है, ओ३म् का उपव्याख्यान अर्थात् उप विवेचन संसार का विवेचन है। वाच्यार्थ ही उपव्याख्यान है जो कि त्रयकाल तथा त्रयकालस्थ मात्र है और लक्ष्यार्थ वह स्वयम् अमात्रिक मौन अद्वैत प्रपञ्चोपशम शिव स्वरूप है।

उपव्याख्यान या अर्थ विस्तार भी है जो मानिस कल्पना मात्र सरचना है। समष्टि और व्यष्टि दोनों ही भाव इसमे विराजमान हैं। इन्हीं को पाद अथवा मात्र नाम प्रदान किया गया है। इस प्रपन्च का विवेचन सामान्य रूप से तो कीट पतग सभी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार करते रहते हैं परन्तु उनका यह विवेचन इस प्रपञ्च मात्र की सत्यता प्रतिपादन करने मे है। अपने आपको भोक्ता समझकर ससार को भोग्य समझकर अपनी-2 परिधि मे सभी इसका अधिक से अधिक उपयोग करने के साधन खोज करने मे पटुता प्रदर्शन कर रहे हैं।

मानव तन मे तो इस ससार को भोगने के लिये इतनी क्रियायें विकसित होती रहती हैं कि जिनके नाम गिनाये जाने भी सम्भव नही परन्तु आध्यात्मिक भाव सदा एकरस विराजमान है उसमे अनेक बौद्धिक कल्पनायें सत्य सी प्रतीत होते हुए भी लेश मात्र भी सत्य नही। चाहे उनकी विवेचना कितनी भी गहन तथा बौद्धिक सूक्ष्मता की पराकाष्ठा भी चाहे क्या न हो आध्यात्मिकता मे केवल बहिर्मुखता मात्र है। ये ओ३म् का उपव्याख्यान मात्र है।

मुख्य व्याख्यान तो त्रयकालातीतता मात्र ही है। ओ३म् सदा एक रस है, फिर भी मात्राओं तथा पादत्रय से विभाजित सा प्रतीत होता है। सब कुछ उससे प्रकट होता है, सब कुछ उससे सत्ता पाता है और सब कुछ उसी मे लय हो जाता है फिर भी ओ३म् निर्विकार है। समस्त क्रियायें प्रतिक्रियायें ओ३म् के आश्रित हैं, फिर भी ओ३म् अचल है। सबको सुलभ सबका आत्मा होते हुए भी द्वैत बुद्धि के दुराग्रह के कारण सदा अलभ्य है। पदार्थों की सत्ता को नित्य मानते रहने के कारण बुद्धि की स्थूलता से अद्वैत ओ३म् मे विश्वास ही नही होता। सर्वमूल ओ३म् सर्व रूप भी है फिर भी अपने आप से भिन्न मानने का दुराग्रह हट कर ही नही देता।

इसी दुराग्रह के कारण ओ३म् को जानने वाले मे भी सर्वज्ञता का विश्वास हो नही होता। अनन्त कल्पनामयी, अनन्त बौद्धिक मान्यताओं का ज्ञान अनन्त प्रकार के अभिमानों को जन्म देता है। वही अभिमान आत्म रूप से स्वीकार कर लिए जाते हैं, और उन्हीं अभिमानों की बौद्धिक परिधियों मे ओ३म् को ढालने का प्रयत्न किया

जाता है परन्तु ओ३म् द्वारा प्रकाशित य अभिमान ओ३म् न प्रकाशय किस प्रकार हो सकते है। समस्त विद्वताभिमानी अपने आपको सीमित करता ओ३म् तक बिना मौन हुए किस प्रकार पहुँच सकते है? इसी ओ३म् की मात्राओं मे विभाजित मान करके अमात्रिक अनुभव कराने के लिए आगे प्रयत्न किया जायेगा।

आध्यात्मिक विद्या का अधिकारी और सांसारिक भोगेच्छुक दोनो धार्मिक हो सकते है परन्तु दोनो के धर्म मे अन्तर है। आध्यात्मिक विचार के अधिकारी वैराग्य प्रधान होते है और भोगेच्छुक धर्म परा राग प्रधान। मुमुक्षु आध्यात्मिक विद्या का अधिकारी है। मुमुक्षु को आत्मोपलब्धि होकर अनात्म भाव निवृत्ति इच्छित है और मुमुक्षु का भोगोपलब्धि चाहिए आत्म भाव की वह उपेक्षा करता है। वर्णाश्रम के प्रति अत्यधिक आग्रह आत्म भाव को आवृत्त किये रहता है परन्तु मुमुक्षु इस आग्रह से आत्म ज्ञान के कारण उबरने म सशक्त होता है। इसीलिए ओ३म् का विचार माण्डूक्योपनिषद् मे किया जाता है।

सर्वं ह्येतद्‌ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाद ॥ 2 ॥

अर्थात्

'ओ३म् सवमिदम्, अक्षरमिद सर्वम् अथवा सव हि + एतद ब्रह्म। सर्वम् को तीन नामा से पुकारा गया है ओ३म्, अक्षर और ब्रह्म। ब्रह्म शब्द का प्रयोग इद सर्वम् के लिए इसलिए हुआ है क्योकि इद सर्वम्' जा अनेक रूप से विस्तरित है इसमे एक ही पदाथ अनक रूप मे विस्तरित होकर विराजमान है।

क्या यह एक पदार्थ विभक्त होकर अनक रूपा म विराजमान हुआ है? क्या? इस प्रकार वह अखड रह सकेगा? अनेकता यदि वास्तविक है तो परस्पर जुडी हुई क्यो है? यदि इद सर्वम् अखण्ड एक ही है तो प्राणी और पदार्थों के अलग-अलग गुण धर्म क्यो है? यदि इद सर्वम् अखण्ड एक ही पदार्थ है तो बन्धन मुक्ति की वास्तविकता क्या है? यदि 'इद सर्वम् एक अखण्ड पदाथ ही है तो यह विभाजन किस प्रकार भासता है? ऐसे और भी अनेक प्रश्न इस प्रसग म उठाए जा सकते हैं।

इन समस्त प्रश्नो का उत्तर एक ही है और वह है इस देव या माया जिसको ऋग्वेद मे कहा है, "इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते"। इसी वास्तविकता को गौडपादाचार्य जी आगे एक कारिका मे बतलायेगे।

"कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देव स्वमायया"। कोई देव अपनी माया से अपने आपने द्वारा अपने अपने आप मे अनेकता की कल्पना कर लेता है। इस प्रकार यह देव अपने आप मे अविकृत रहते हुए भी कल्पित विस्तार पाकर 'इद सर्वम्' रूप से भास रहा है। इसी सत्य का विवेचक ब्रह्म सज्ञा है। निर्विकार विस्तार निराकार आकार निराधार आधार रूप को ब्रह्म शब्द मे द्योतन किया गया है।

"अयमात्मा ब्रह्म" ब्रह्म जो अक्षर और आरंभ तथा 'इद सर्वम्' है। जिसका परोक्ष ज्ञान श्रद्धा भक्ति का जनक है वही अपरोक्ष ये हमारा आत्मा है। आत्मा के विषय मे किसी को लेश मात्र भी शका नही। आत्मा सबको अपरोक्ष है आबाल वृद्ध सभी मैं हूँ यह कहकर जिसको प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं वही आत्मा ब्रह्म है। यह अन्तिम रहस्य केवल वेदान्त वेद्य है। जहाँ कही इस ज्ञान की थोडी बहुत छाया है, वह यही से किसी झरोखे द्वारा छनकर गई है।

यह आत्मा शरीर मात्र मे प्रतीत होने वाला वस्तुत शरीर मात्र नही है, समस्त शरीरो तथा शरीर से बाहर यही विराजमान है। इसके अतिरिक्त और कुछ नही सभी कुछ इसी से भास रहा है। जिस प्रकार पृथ्वी पर उगली रख कर कहा जाता है यह पृथ्वी है, तो क्या जितने पृथ्वी के भाग को उगली स्पर्श कर रही है, उतनी ही पृथ्वी है। या यो समझिये पृथ्वी को उगली से स्पर्श करते हुए क्या केवल पृथ्वी का एक देश मात्र ही उसके द्वारा स्पर्श हुआ है अथवा समस्त पृथिवी ? आपको मानना पडेगा भले पृथ्वी का एक देश ही उगली ने स्पर्श किया है परन्तु इससे निर्दिष्ट सारी पृथ्वी ही है।

इसी प्रकार समस्त समुद्र को स्पर्श करने के लिए उगली से थोडा सा जल स्पर्श किया जाता है परन्तु निर्देश पूरे समुद्र का हो जाता है। किसी प्राणी या पदार्थ या किसी भी गुण धर्म का थोडा सा भाग ही स्पृष्ट होता है फिर भी निर्देश पूरे प्राणी, पदार्थ, गुण और धर्म का

होता है। यही सिद्धान्त अयम् मे निहित है अयम् क द्वारा ही शरीर, प्राण, अन्त.करण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय समुदाय द्वारा निर्मित, आत्मा मे आरोपित मैं-मै कर वोलने वाला जीवत्व है जो सबको अपने आप मे अपरोक्ष है। इस अपरोक्ष मै को अयम् कहा है तथा आत्मा के साथ इसको मिलाकर अयमात्मा नाम दिया गया है। यह आत्मा या अयमात्मा वस्तुत. ब्रह्म ही है।

वेद का उपनिपद् भाग ही वेदान्त कहलाता है उसी को महर्षि व्यास ने ब्रह्म सूत्र अथवा उत्तरमीमासा या वेदान्त सूत्रो मे क्रमानुसार विपय क्रम से विवेचन किया है। आगे चलकर गीता भी उपनिपदो से दुही गई है। इस प्रकार उपनिपद् गीता और ब्रह्म सूत्र यही वेदान्तत्रयी कहलाती है। वस्तुत. उपनिपद् ही वेदान्त है। प्रत्येक उपनिपद् अपने आप मे स्वतन्त्र है तथा ब्रह्म तत्त्व को अपनी-अपनी शैली के अनुसार आत्मा के साथ एक रूप करके अपरोक्ष कराती है। कई उपनिषदो मे अनेक आख्यानो द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान को अनेक शैलियो से प्रकट किया है। हाँ इतना अवश्य है उपनिपदो का प्रतिपाद्य विपय ब्रह्मात्मैक्य ही हे।

यद्यपि अनेक प्रतिक्रियावादी आचार्यो ने उपनिपद् साहित्य का अर्थ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार करके अनेक सिद्धान्तों को जन्म दिया है परन्तु वे सिद्धान्त तर्क और अनुभव की तुला पर पूरे नही उतरने फिर भी सस्कारो की विचित्रता से उन्ही-उन्ही सिद्धान्तो को वादी वृन्द लेकर आग्रह करके बैठे हुए है।

"सोऽयमात्मा चतुष्पाद्" यह आत्मा जोकि ब्रह्म है, ॐ है, अक्षर है, इद सर्वम् है चार पाद वाला है। इसके चार पाद गाय, भैंस, बकरी की भाँति नही है। अथवा रुपये की चार चवन्नियो की भाँति भी नही है। यहाँ पर पाद का अर्थ समझने के लिये मानी हुई चार अवस्थाये। तीन पाद माया है और चतुर्थ उसका अधिष्ठान है। जिस प्रकार मेढक या मण्डूक को अपने आप जहाँ विराजमान है उससे आगे किसी निश्चित स्थान पर पहुँचना है तो वह तीन छलागे लगातार चौथी छलाग मे निश्चित जगह पहुँच जाता है। ठीक इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् की शैली है। मण्डूक या मेढक का भाँति

स्वस्वरूप में ज्ञान द्वारा लगवाकर पहुँचाने वाली उपनिषद् माण्डूक्योपनिषद् है। इसी कारण इसका नाम माण्डूक्योपनिषद् है।

स्थूल शरीर जागृदावस्था सभी इसी में विश्वास करने वाले स्थूल जगत के स्थूल भागों तक ही लोगों की समझ बूझ है। जन्म जन्मान्तर से यही उनका आसन लगा हुआ है। इसके बाद सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था में भी आता जाता तो है और सूक्ष्म भोगों का भोग भी लगाता है परन्तु उसमें सत्यता का विश्वास नहीं करता। कारण शरीर सुषुप्त्यवस्था में अनजाने ही जाकर आनन्द का भोग तो लगाता है परन्तु यह अपना है या पराया इस विषय में सदा अनजान रहता है। ये आत्मा के तीन पाद हैं और चौथा वह स्वयं है जिसमें पादों की कल्पना हुई है इसको तुरीय कहकर पुकारा गया है। आगे इन्हीं की व्याख्या होगी।

जागरित स्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः स्थूल भुग्वैश्वानरः प्रथमः पाद ॥3॥

प्रथम पाद का विवेचन करते हुए कहते हैं—जागृतावस्था ही क्योंकि हमारी सारी दुनिया हमें प्रतीत होती है और स्थूल शरीर ही में हमें हमारे मैं पने का विश्वास है। स्थूल भोग ही हमारे लिए हमारे लभ्य लक्ष्य हैं। स्थूल शरीर वाले ही हमारी जाती विरादरी वाले रिस्तेदार हैं। इन्हीं के साथ हमारा बर्ताव लेना देना, शादी विवाह, प्रेम प्रीति है। स्थूल, धातु, ग्रह, आजीविका धन-दौलत ही हमारा सर्वस्व है। इसीलिये यहीं से हम यात्रा प्रारम्भ करते हैं। इसी पाद में समस्त लोक, समस्त देव, समस्त मनुष्य, पशु-पक्षी, कीटपतंग, चराचर जगत आ जाता है।

इस सब प्रपञ्च को एक साथ समझने के लिए समष्टि और व्यष्टि दो भागों में विभाजित कर लिया जाता है। वैसे तो समष्टि विवेचन में व्यष्टि का भी विवेचन साथ-साथ आ जाता है परन्तु व्यष्टि विवेचन आत्म साक्षात्कार का हेतु है इसलिए उसका भी विवेचन करना परमावश्यक है। क्योंकि उपदेश व्यष्टि के प्रति ही दिया जा रहा है। इसलिए व्यष्टि की दृष्टि प्रधान होनी चाहिए। समष्टि

का भोग्य है इसका विवेचन हुये बिना विवेच्य विषय पूरा नही होता ।

इसलिये समष्टि मे स्थूल जगत और उसका अभिमानी चेतन विराट कहलाता है और व्यष्टि मे स्थूल जगत का भोक्ता का आयतन स्थूल शरीर तथा उसका अभिमानी चेतन वैश्वानर कहलाता है । विश्व भी इसे कहते हैं । बाहर की ओर बुद्धि स्थूल विषयाभिमुख होती है तथा इसके सप्त अंग होते है—(1) मूर्धा-सुतेजा (2) चक्षु-विश्वरूप (3) प्राणः—पृथग्वर्त्मात्मा (4) सन्देहो-बहुल (5) वस्ति-रयि (6) पृथ्वी-पाद (7) आह्वानीय अग्नि-मुख । कहीं-कही इन्ही को यों कहा गया है—(1) मूर्धा-दिव्यलोक (2) चक्षु-सूर्य (3) प्राण-वायु (4) मन-चन्द्रमा (5) उपस्थेन्द्रिय-जल (6) पृथ्वी-पाद (7) मुख-अग्नि ।

उन्नीस मुख है—5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय + 5 प्राण + अन्तःकरण चतुष्टय रूप मुख है । स्थूल पदार्थों का मुख्य भोग है । क्यो कि दीखने वाले स्थूल पदार्थों को ही सब कुछ समझकर इन्ही मे यह रमण करता रहता है । यह आत्मा का प्रथम पाद है ।

थोड़ा सा यह और समझते चले दुनियाँ की यात्रा बाहर की ओर और अध्यात्मिक यात्रा अन्दर की ओर होती है । अभी तो अध्यात्मिक यात्रा का प्रारम्भ किया जा रहा है यात्रा के लिए अभी आप जहाँ है वहीं से यात्रा प्रारम्भ होगी । जहाँ आपको अपने होने का विश्वास है, जहाँ आप अपना जीवन जी रहे है और जिन पदार्थो मे आपका जीवन चल रहा है तथा जो आपके जीवन की आवश्यकता है वह सब आपकी यात्रा प्रारम्भ करने का स्थान प्रथम पाद है अब इससे अन्दर की ओर दूसरा पाद है इसका विवेचन किया जाता है –

स्वप्न स्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुख प्रविविक्त भुक्तैजसो द्वितीय पादः ॥4॥

स्वप्न स्थान तथा बुद्धि की आन्तरिक आमुखता उक्त सात अंग उन्नीस मुख सूक्ष्म भोग तैजस नाम वाला आत्मा का द्वितीय पाद है । इस पाद की अनुभूति लगभग सभी शरीरधारियो को होती है ।

यद्यपि सांसारिक दार्शनिक साहित्य में इस अवस्था का विचार विशेष नहीं किया गया है और यह वाद सामान्य विद्वानों द्वारा उपेक्षित रहा है। इसलिये अधिकतर जीवन दर्शन विवेचक स्वप्न जगत का वर्णन पूर्ण रूप से नहीं कर पाये हैं। वेदान्त और बौद्ध दर्शन में इस का विवेचन अत्यन्त ऊहापोह से किया गया है, इसलिये दोनों दर्शन लगभग एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

इतना अवश्य है न तो वेदान्तीय सम्प्रदाय और न बौद्ध सम्प्रदाय ही एक दूसरे की बात का प्रतिपादन करते दृष्टि गोचर होते हैं। उल्टा एक दूसरे का खण्डन सा करते हुए दृष्टि आते हैं परन्तु कोई भी पक्षपात रहित दृष्टि से अध्ययन करे तो उसको यह रहस्य स्पष्ट समझ में आ जायेगा। वेदान्त वेद्य ब्रह्म और बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित शून्य लगभग एक ही रहस्य को प्रकट करता है।

यद्यपि वेदान्त का दार्शनिक रूप प्रदान करने वाले आद्य शंकराचार्य अनेक स्थानों पर शून्यवाद का खण्डन करते हैं तथा कई स्थानों पर तो इसका इतना निरादर करते हैं कि शून्यवाद को पूर्व पक्ष रूप में न उठाते हुए कहते हैं। यह वाद तो समस्त प्रकार से उठाने योग्य वाद भी नहीं। थोड़ा सोचिये इतना मात्र कह देने से किसी वाद का खण्डन नहीं हो जाता। कहीं यदि उन्होंने इस वाद को उठाया भी है तो शून्य को अभाव मानकर उसका खण्डन किया है परन्तु यह इस सिद्धान्त के साथ बहुत बड़ा अन्याय है। माध्यमिक कारिका में नागार्जुन शून्य को अभावात्मक नहीं मानते और न भावात्मक ही उसको स्वीकार करते हैं। इन्होंने कारण रूप में भाव और कार्य रूप में अभावात्मक भी शून्य को नहीं माना है और न ही कारण रूप से अभाव और कार्य रूप से भाव शून्य को स्वीकार किया है। "चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं शून्यं तत्त्वविदो विदुः।" आगे निर्णय पाठकों पर छोड़ा जाता है शून्य और अव्यक्त ब्रह्म में कितना अन्तर है ?

कितने ही सज्जन प्रश्न किया करते हैं यदि दोनों की पहुँच लगभग एक ही है तो शंकराचार्य जी ने बौद्धों का खण्डन क्यों किया है ?

इसका कारण दार्शनिक भेद उतना नही जितना प्रारम्भिक मान्यताओ का अन्तर है। *वैदिक साहित्य को बौद्धो ने मान्यता नही दी* जिसके ऊपर सारा ब्राह्मणवाद खडा किया गया है। वर्णाश्रम धर्म, यज्ञ, ईश्वर आदि अनेक सिद्धान्त जिन पर वैदिक साहित्य विश्वास करता है बौद्धो ने उनका खण्डन किया है। इनकी प्रारम्भिक मान्यता जन्म से श्रेष्ठता नही गुण से श्रेष्ठता है, आचार मे श्रेष्ठता है धर्म पालन मे श्रेष्ठता है यह रहा है। यज्ञ आदि अन्ध विश्वास पर खडे हुए है उनका उपयोग मानव जीवन मे कुछ भी नही। ईश्वर की सत्ता *लोगो के अनुमान पर खडी है। वस्तुत तर्क से ईश्वर अप्रतिष्ठित* तथा अनुभव से बाध्य है। वैदिकवाद या ब्राह्मणवाद तथा बौद्धवाद दोनो धाराये रहन-सहन के मामले मे बिल्कुल एक दूसरे के विरुद्ध है। इसलिए शंकराचार्य को ब्राह्मणवाद की रक्षा के लिए बौद्ध धर्म का खण्डन करना पडा।

माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादाचार्य की कारिका जो आगे यथा स्थान, स्थान पाती हुई व्याख्या की जायेगी। नागार्जुन कारिका मे अत्यन्त प्रभावित है और यह बात उनके इस कथन से ध्वनित होती है-- इति—"नैतद्बुद्धेन भाषितम्" बुद्ध का नाम यहाँ स्मरण करने की क्या आवश्यकता पड गई लगता है उनको भय है कही मेरा *सिद्धान्त बौद्ध सिद्धान्त के साथ मेल न खा जाये अथवा मैने कुछ* बौद्धो से सीखा है उसका पता न लग जाये।

हमारा तात्पर्य पक्षपात प्रदर्शन में नही परन्तु सत्य का थोडा सा उद्घाटन करना आवश्यक समझा गया और वह आवश्यक भी है।

थोडा सा विषय का परित्याग करके हम दार्शनिक पथ की ओर चले गये थे। आइये चर्चा तो यह थी स्वप्नावस्था का विशिष विवेचन प्राचीन दर्शनो मे केवल बौद्ध और वेदान्त दर्शनो मे ही पढने को मिलता है। समस्त भारतीय वैष्णव दर्शन भावुकता विशेष पर ठहरा हुआ है तर्क को कसोटी पर उनके कल्पित लोक तथा कल्पित देव और उनके प्रति मान्यता लेश मात्र सही नही ठहरती। केवल साहित्य को के द्वारा प्रदर्शित स्त्री, पुरुषो के साम्बन्धिक भाव

विभावों को उनने दर्शन में विशेष स्थान मिला है और उन्हीं मानसिक भावों को उन्होंने साधना सीढ़ी माना हुआ है।

तो स्वप्नावस्था का स्थान अपनी जगह पर उतना ही मूल्यवान है जितना अपने स्थान पर जाग्रदवस्था का। स्वप्नावस्था में तथा जाग्रदवस्था में आवरण और विशेष रूप से अज्ञान आत्मा के आश्रित विराजमान है। इतना विशेष है स्वप्नावस्था में जाग्रत के संस्कार तथा अविद्या दोनों ही स्वप्न प्रपञ्च की कल्पना में सहायक होते हैं और जागृत केवल स्वप्नावस्था के संस्कारों से रहित पूर्व वासना जन्य अविद्या का विस्तार माना है।

जागृत बाह्य संसार के आश्रित है जबकि स्वप्न अन्तः संसार के आश्रित। आगे चलकर यह भेद यद्यपि सत्य सिद्ध नहीं होता किन्तु अवस्थाओं का भेद समझाने के लिये सामान्य अनुभव को लेकर उपर्युक्त सिद्धान्त कहा गया है। इस प्रकार यह आत्मा का द्वितीय पाद स्वप्नावस्था रूप है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥5॥

स्वप्नावस्था का शरीर तथा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय प्राण आदि सभी प्रपञ्च कल्पना का विस्तार मात्र है। इतना अवश्य अनुभव सिद्ध है, स्थूल शरीर से स्वप्नावस्था से अत्यन्त सम्बद्ध विच्छेद नहीं होता अन्यथा स्वप्नावस्था के दृश्यों का जागृत पर बिल्कुल प्रभाव नहीं होना चाहिये परन्तु स्वप्नावस्था की अनेक क्रियाओं का प्रभाव जागृदवस्था के शरीर पर पड़ता ही है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के स्त्री पुरुष के संयोग का प्रभाव स्थूल शरीरस्थ उपस्थेन्द्रिय पर पड़ता ही है जिस कारण वीर्यादि का पात होता है। और भी स्वप्न में डरता है तो स्थूल शरीरस्थ की वाणी से चिल्लाता है जो पास वाले को भी सुनाई देता है। जब किसी से युद्ध करता है तो स्वप्न के युद्ध में स्थूल शरीर के हाथ पैर क्रियारत दृष्टिगोचर होते हैं।

इसका विवेचन हो जाने के बाद तीसरे पाद की बात चलती है, जिस स्थिति में विक्षेप निवृत्त होकर केवल आवरण शेष रह जाता

है तो सुषुप्ति अवस्था होती है। तब कुछ भी कोई भी कामना नहीं करता न कुछ भी स्वप्न देखता है। सुषुप्त्यवस्था में समस्त विशेष रूप कामनायें अज्ञान में एकीभूत हो जाती है। और बुद्धि वृत्ति जन्य, ज्ञानाभास्य ज्ञान, ज्ञान के साथ घन रूप से विराजमान हो जाता है। केवल आनन्दमय कोष शेष रह जाता है और अनचाहे, अनजाने चेतन की ओर आमुख हुआ यह प्राज्ञ नाम वाला आनन्द का भोग लगाता है। वह आत्मा का तृतीय पाद है। ये तीन पाद आत्मा में माया से आरोपित हैं।

साथ-साथ समष्टि भी समझते चलिये स्थूल संसार और स्थूल संसाराभिमानी चेतन दोनों मिलकर विराट कहलाते हैं विराट में विश्व सन्निहित है। सूक्ष्म संसार और सूक्ष्म ससाराभिमानी चेतन हिरण्यगर्भ कहलाता है जो अपने साथ व्यष्टि सूक्ष्म शरीर और उसके अभिमानी चेतन सभी तैजस समुदाय को अपने में समोये हुए है। कारण जगत अथवा माया तथा मायाभिमानी चेतन ईश्वर कहलाता है जो अपने में सभी कारण शरीर या अज्ञानों तथा उसके अभिमानी चेतन प्राज्ञों को एक रूप करके विराजमान है। इसी रहस्य को अर्थात् ईश्वर भाव को श्रुति आगे कहता है—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनि. सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥6॥

यह मायोपाधित चेतन जो सुषुप्ति में समस्त भेद और भेदज्ञान को प्राज्ञ की झोली में डलवाकर समस्त अविद्याओं को एकरूप करके माया की चादर ओढकर सोया हुआ है सर्वेश्वर है सर्व व्यापकत्व चेतनत्व धर्म के कारण सर्वज्ञ है। यह सब के अन्दर सबको संयम में रखता है। सभी चराचर जगत का कारण यही है। समस्त भूत इसी में प्रगट होकर इसी में लय हो जाते हैं।

वेदान्त सिद्धान्तानुसार मायोपाधित चेतन ईश्वर को ही जगत का अभिन्न निमित्तोपादान स्वीकार किया गया है। शुद्ध चेतनतो कारण कार्य भाव से अत्यन्त अछूता है वह आगे चल कर बतलायेंगे।

अब गौडपादाय कारिकाओं द्वारा इसी रहस्य को प्रगट करके परिपक्व करते हैं।

बहि प्रज्ञो विभुर्विश्व ह्यन्त प्रज्ञस्तु तैजस ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृत ॥1॥

अर्थात्

विभु सर्व व्यापक परमात्मा सर्वाधिष्ठान सच्चिदानन्द आत्मा जो सर्व रूप होकर स्वयम विराजमान है, जिसमें सभी लोक-लोकान्तर की कल्पना मात्र आरोपणा है। सामान्य, साधारण दृष्टि से जो जड-चेतनात्मक होकर भास रहा है वही शरीरस्थ अन्त करण और प्राण का आश्रय लिए हुए व्यष्टि भाव मे जीव नाम से स्मरण किया जाता है। जिसको हृदय की उपाधि से अगुष्टमात्र कहा जाता है जब बाहर की ओर उसकी बुद्धि का बहाव होता है तो उसकी सज्ञा विश्व होती है। वह जगद्व्यापक नारायण शरीरमात्र की उपाधि से शरीरभाव प्रतीत होता है और जब इसकी बुद्धि का बहाव अन्दर की ओर होता है तो इसका नाम तैजस होता है।

यही त्रिलोकीनाथ जब आराम करने की ठानते है तो उनकी प्रज्ञा बहाव का परित्याग करके घनरूप हो जाता है। अनेकता को एकता म समेटकर अज्ञान की चादर ओढ कर आनन्द का भोग लगाते हुए बाहर भीतर की कल्पना से विरहित प्राज्ञ नाम का यही परमात्मा धारण करते है। इस प्रकार सदा सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित अकेले ही उपाधि भेद से तीन भाँति मे स्मरण किये जाते है।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजस ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थित ॥2॥

अर्थात्

विश्व का स्थान दाहिने नेत्र म है 'इन्धो ह वै नामैष योऽय दक्षिणेऽक्षिपुरुष' श्रुति के इस कथनानुसार दीप्तिगुण वाला वैश्वानर तथा सूर्यमण्डलान्तर्गत विराज पुरुष दोनो एक ही है वैश्वानर का निवास दक्षिण नेत्र है और वैराज पुरुष सूर्य के माध्यम से वैश्वानर के साथ एक रूप होता है। क्योकि सूर्य आँख का देवता है। स्थूल जगत प्रकाश्य और वैश्वानर प्रकाशक तथा सूर्य सहकारी कारण है,

इस प्रकार स्थूल देह, स्थूल जगत तथा वैश्वानर विराट की एकता समझनी चाहिए।

दक्षिणाक्षिस्थ भाव से मस्तिष्क का भी ग्रहण होता है क्योंकि जागृत अवस्था मे मस्तिष्क ही संयमक है। जोकि नस नाडियो के माध्यम से प्राण की शक्ति और बुद्धि की समझ लेकर, ज्ञानेन्द्रियो मे प्रेरित हुआ कर्मेन्द्रियो की सहायता से सारा कार्यकलाप करता है और कर्म का सारा खेल मस्तिष्क द्वारा ही इच्छापूर्वक किया जाता है।

परन्तु जड मस्तिष्क अपने मे आत्मा की विशेष उपस्थिति से विशेष शक्ति लेकर कार्यकलाप मे सशक्त होता है और मस्तिष्क के सभी धर्मों का आरोप अपने अन्दर करके परमात्म देव अपने को कर्त्ता मानता रहता है। यह जाग्रदावस्था इसकी कार्यशाला है। मस्तिष्क के अन्दर समस्त क्रियाकलाप का हेतु ज्ञानेन्द्रिय समुदाय है, चित्त भी स्मृति द्वारा सहायक होता है और कभी-कभी स्वत भी स्वाभाविक मस्तिष्क अपना कार्य करता रहता है।

तैजस का स्थान मन है तथा स्वप्नावस्था मे मन कठम्थ हिता नामक नाडिका मे विराजमान होता है तभी स्वप्नावस्था बनता है। जिस प्रकार कोई कार्यरत व्यक्ति कार्यक्षेत्र से वापिस आकर पथ मे क्षेत्र और घर के दोनो सस्कारो से युक्त भूत भविष्य को मिला-जुलाकर तथा कुछ असंभव सी कल्पना करके विचारो मे उलझा हुआ सा घर की ओर आता है उसी प्रकार मस्तिष्क या दक्षिण नेत्र से यह हृदय की ओर आता हुआ हिता नाडिका मे स्वप्नावस्था का कल्पक होता है। आप अनुभव करेगे या तो निद्रा से पूर्व स्वप्न दिखाई देते है। अथवा या फिर निद्रा के उपरान्त जागृत मे आते हुए स्वप्न दिखाई देते है। कभी-कभी स्वप्न मे सारी रात्री बीत जाती है और यह विचारा परेड करता हुआ किसी छोर पर पहुँच नही पाता। सुबुद्धि का घोर अज्ञान और जागृदवस्था के संस्कार दोनो ही स्वप्न-वस्था मे विराजमान होते है।

हृदयाकाश मे इसका नाम प्राज्ञ होता है अर्थात् प्राज्ञ का स्थान हृदयाकाश है। हृदय का का कार्यकलाप स्वाभाविक है और निरन्तर

चलता रहता है। रुधिर को शुद्ध करके नस नाड़ियों द्वारा बहिर्मुखीकरण करते हुए केशान्त तक पहुँचाना तथा नस नाड़ियों से पुन (रुधिर) को अन्तर्मुख करके अपने तक ले जाना यह हृदय का कार्य है।

श्वास प्रश्वास यह फेफड़े की क्रिया है जो कि हृदय की क्रिया के साथ जुड़ी हुई है। शुद्ध वायु को लाना और अशुद्ध वायु को बाहर फेंकना यह शुद्धी अशुद्धी का व्यापार हृदय का है तथा श्वास प्रश्वास द्वारा शुद्ध वायु को लाना अशुद्ध का बाहर निष्काशन यह कार्य फेंफड़े की क्रियायें हैं। इनको प्राण की मुख्य क्रिया भी कहीं-कहीं कहा गया है।

हृदय के साथ-साथ आमाशय यकृत प्लीहा, क्षुद्र आत, वृहद आत गुर्दे आदि की क्रियायें भी स्वाभाविक अन्दर-अन्दर ही प्रवृत्त रहती है। तो सुषुप्ति मे विशेषात्मा के हृदय निवास पर भी शरीर मे उपर्युक्त कार्य कलाप चलता ही रहता है। आत्मा की उपस्थिति सामान्य रूप से समस्त यन्त्रो को चलाती हुई भी, वुद्धि व्यापार से युक्त नही होती इसलिए सुषुप्ति मे आराम मिलता है।

जागृत की प्रत्येक क्रिया के साथ अहं का योग होने के कारण व्यक्ति को करने का अभिमान और करने से थकावट भी होती है। जागृत मे हृदय के व्यापार को मस्तिष्क का व्यापार अपनी प्रधानता मे स्मृतिपटल पर आने नही देता इस प्रकार आन्तरिक सारी मशीनरी चलती भी रहती है और उसका भान भी नही होता। हाँ आन्तरिक किसी दोष के होने पर मस्तिष्क पर इसका प्रभाव अवश्य पडता है कभी-कभी तो मस्तिष्क की नीद हराम हो जाती है और कभी-कभी अत्यन्त आघात से मूर्छित हो जाता है।

स्वप्नावस्था मे हृदय तथा आन्तरिक यन्त्र वृन्द और मस्तिष्क दोनो का मेल-मिलाप रहता है। तन मे वात, पित्त, कफ की प्रवृद्धि मे होने वाले रोगो का प्रभाव भी स्वप्नावस्था मे अपना योग अवश्य देता है। जिस प्रकार तन के रोग जागृत मे विघ्न बाधा के हेतु है उसी प्रकार स्वप्न मे भी इनका प्रभाव अवश्यमेव पड़ता है। तन और मन का धरातल एक-दूसरे से सदा जुडा हुआ है, एक-दूसरे का प्रभाव भी अवश्यमेव पडता है।

शंका—तो क्या आत्मा इन्हीं तीन स्थानों पर रहता है और तन के भाग सदा रिक्त बने रहते है ?

समाधान—नहीं ऐसी बात नहीं सामान्य रूप से तो पूर्ण शरीर मे रहता है परन्तु विशेप रूप से इन्हीं तीन स्थानों मे माना जाता है। जिस प्रकार एक क्षेत्र में तीन गर्त्त है और क्षेत्र में जल भर दिया जाये तो सामान्य रूप मे तो पूरा क्षेत्र जलमग्न हो गया है परन्तु त्रयगर्त्त में विशेष रूप मे जल रहता है। यही भाव यहाँ माना गया है।

शंका—क्या आत्मा शरीर मात्र में ही रहता है ?

समाधान—नहीं आत्मा तो सर्वव्यापक है परन्तु जहाँ-जहाँ अन्तः-करण है वहाँ-वहाँ विशेप रूप से इसकी अभिव्यक्ति होती है। अन्तः-करण सूक्ष्म शरीर के माध्यम मे सम्पूर्ण शरीर मे रहता है। इसके अन्दर सतोगुण विशिष्टता होने के कारण प्रतिविम्ब ग्राह्यता है इस लिए अन्तःकरण के माध्यम से शरीर मात्र में आत्मा अभिव्यक्त होता है। वह भी जीवित शरीर में।

विश्वो हि स्थूल भुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्त भुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत् ॥3॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम्।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधतः ॥4॥

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितिः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥5॥

अर्थात्

विश्व स्थूल पदार्थों का सेवन करता है, तैजस सूक्ष्म मनस्थ सांकल्पिक पदार्थों का भोग लगाता है और प्राज्ञ आनन्द का भोग लगाने वाला है। इस प्रकार यह तीन प्रकार का भोग समझना चाहिए।

स्थूल प्रपञ्चस्थ स्थूल भोग विश्व की तृप्ति का हेतु है, मनः कल्पित सूक्ष्म भोग तैजस की तृप्ति का हेतु है तथा आनन्द प्राज्ञ को तृप्ति प्रदान करता है यों ये तीन प्रकार की तृप्ति है।

तीनों धामों में भोग्य और भोक्ता कहा जाने वाला तत्त्व जो भोक्ता और भोग्य द्वैत भासता है। उसी भोक्ता भोग्य द्वैत को जो जानता है वह भोगते हुये भी लिपायमान नहीं होता।

जिज्ञासुओं को यह अवश्य समझ लेना चाहिए स्थूल संसार और सांसारिक वस्तु आपके शरीर के लिए परमावश्यक हैं। शरीर की आवश्यकता पूर्ति के लिए संसार की संयोजना अवश्य करणीय है।

यह भी ठीक है कि प्रारब्ध शरीर का पोषण करती है परन्तु आप के पुरुषार्थ का सहारा इसे अवश्य चाहिए। यों बिना पुरुषार्थ अजगर वृत्ति से भी गुजारा हो सकता है किन्तु मनुष्य की शोभा पुरुषार्थ ही में है। पुरुषार्थ से तथा प्रयत्न परिश्रम से जो प्रारब्ध के गोपुर खोलता है वह सहस्रों जन-समुदाय का प्रेरणा स्रोत होता है।

गृहस्थ धर्मानुसार शारीरिक प्रयत्न अपने धर्म, समाज, जाति, देश, संस्कृति सभी की सुरक्षा का हेतु है साथ ही जीवन प्रवाह भी सदा बना रहता है। हृदय के अन्दर शौर्य भी बना रहता है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छत समा" वेद भगवान का भी गृहस्थ के प्रति यही उपदेश है, "कर्मों को करता हुआ ही शत वर्ष जिजीविषेत् जीने की इच्छा कर। इतना आवश्यक है अपने आपको यदि समझाना रहेगा तो "न कर्म लिप्यते नरे" तुझमें समझदारी से रहना अर्थात् मन से "न रमणता" बनी रहेगी और कर्मों की क्रिया से कर्तृत्वाभिमान लेश मात्र भी तुझमें नहीं आयेगा तथा कर्म तेरे लिये फलाकांक्षा रहित होने से बन्धन के हेतु नहीं होंगे।

स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था तथा सूक्ष्म तथा आनन्द भोग यह तो सर्व सामान्य प्राणधारियों के लिए है इसमें कुछ यत्न भी नहीं है। केवल जागृत अवस्था का बचा-खुचा संस्कार मन का सहायता से सूक्ष्म भोग बन जाता है और जागृत की थकावट तथा स्वप्न की ऊर्जाजन्य तनाव यहीं शान्त होकर सुषुप्ति में आनन्द भोग्य का हेतु होता है।

वस्तुत इन तीनों अवस्थाओं, तीनों शरीरों, तीनों भोगों और इनके अभिमानी चेतन तीनों भोक्ताओं का अधिष्ठान एक शुद्ध चेतन प्रत्येक व्यक्ति का अपना आत्मा है। समष्टि में स्थूल, सूक्ष्म और

कारण ससार और तद् अभिमानी चेतन विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर का अधिष्ठान भी शुद्ध चेतन ही है। इस रहस्य को जो ज्ञानवान जानता है उसके दोनों हाथों में लड्डू हैं। एक ओर तो वह ससार का दास न होता हुआ ससार में ससार का स्वामित्व अपने अन्दर अनुभव करके इसकी सेवा स्वीकार करता है और दूसरी ओर अपने आप में रतिवान होते हुए अपने आपका आनन्द स्वीकार करते हुए असग रहता है।

अज्ञानी व्यक्ति चिन्ता ग्रस्त जीवन में न तो सांसारिक आनन्द पूर्णरूपेण भोग पाता है और न अपने में विश्वासहीनता के कारण तृप्ति अनुभव कर पाता है। सांसारिक भोगों को इतने अधार्मिक पथ से एकत्रित करता है कि उसके चारों ओर शत्रुओं की उपस्थिति, शासकों की गृद्ध दृष्टि घरवाले रिश्तेदारों की लालच हर समय भयभीत बनाये रखती है। साथ ही भोगों को भोगते-भोगते भविष्य में उनका विनिष्ट होने का डर उसके हृदय को क्षण क्षण धड़काता रहता है। इस प्रकार अज्ञानी इन पदार्थों की अप्राप्ति पर भी न होने से दुःखी रहता है, हो जाने पर रखवाली की चिन्ता सताती रहती है तथा विनष्ट होने पर रुदन ही शेष रह जाता है। ज्ञानवानों का न मिले तो शान्ति मिल जाये तो अमसत्र, नष्ट हो जाय तो निश्चिन्तता। वह इन भोगों से बँधा हुआ नहीं।

प्रभव सर्वभावाना सतामिति विनिश्चय ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोऽशून्पुरुष पृथक् ॥6॥

इन पदार्थों के प्रगटन के विषय म थोडा सा विचार करते हुए कहते हैं, समस्त भावों का प्रभाव किस प्रकार होता है इस विषय में सज्जन पुरुषों का यह निश्चय है, "प्राण ही प्राणियों के रूप में इस पृथक् पुरुष को इस प्रकार प्रगट करता है जिस प्रकार जल सूर्य को अनेक लहरों की उपाधि में अनेक रूप म प्रतिबिंबित करता है। जल द्वारा प्रतिबिंबित सूर्य समुदाय सूर्य की भाँति ही प्रकाश और ताप दोनों प्रदान करता है। भले सूर्य इन सबसे अलग है।

अन्त करणों में प्रतिबिम्बित पुरुष भी अनेक रूप वाला हो जाता है तो इन सबमें पुरुष के धर्म भी यथा प्रकाशन, स्फूर्ति प्रदानता

आदि विराजमान रहते ही हैं। ध्यान रहे अन्त.करण की उपाधि द्वारा प्रकल्पित पुरुष मे अनेकता भ्रान्ति मात्र है, पुरुष सदा एक सच्चिदानन्द स्वरूप हा है। जिस प्रकार एक व्यक्ति फूटे दर्पण मे अपना मुख देखता है तो जितनी दर्पण की टुकडियाँ है उतने ही मुख दृष्टिगोचर होते है परन्तु वास्तविक मुख तो कभी देखने का विषय बनता ही नही।

जिस प्रकार भक्त समुदाय अपने-अपने इष्टदेवो का दर्शन करता है तो वे देव केवल उनका कल्पनामयी संरचना का हा परमात्मा मे आरोप है अन्यथा देखने वाला दीखने मे कदापि नही आता।

विभूति प्रसव त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टि चिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पता ॥7॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते काल चिन्तकाः ॥8॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्येष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥9॥

सृष्टि के विषय मे दो प्रकार के दृष्टिकोण देखे जाते हैं एक तो सृष्टि का जन्म मानते है और एक सृष्टि को प्रातीतिक मानते हैं। प्रथम सृष्टि का जन्म होता है, इस मत वालो का सिद्धान्त उपस्थित करते है, "विभूति अर्थात् ससार का जन्म होता है, ऐसा सृष्टि के चिन्तक मानते है। इस विषय मे श्रुति का प्रमाण भी उपस्थित किया जाता है," तस्मादाकाश आकाशाद्वायु "आत्मा से आकाश प्रगट होता है आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि मे जल और जल से पृथिवी प्रगट होती है। और भी बहुत से प्रमाण इस विषय मे वेद द्वारा उपस्थित किये जाते है," "सूर्यचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्" अर्थात् विधाता ने पूर्व काल की भाँति इस काल मे भी सूर्य चन्द्रादि की सरचना की है।

सृष्टि को प्रातीतिक मानने वाले सज्जनो का कथन है कि, "जिस प्रकार स्वप्न और माया की सृष्टि होती है उसी प्रकार शुद्ध चेतन मे सृष्टि आरोपित मात्र है वस्तुत. बना बनाया कुछ भी नही। श्रुति

के प्रमाण जगदोत्पत्ति के विषय में एक-दूसरे के विरुद्ध है। यथा उपनिषद की एक श्रुति कथन है सृष्टि में आकाश सर्वप्रथम प्रगट हुआ, दूसरा श्रुति का कथन है वायु सर्व प्रथम बनी, तीसरी श्रुति का कथन है अग्नि सर्वप्रथम रची गई, किसी में जल का निर्माण सर्वप्रथम कहा गया है और किसी-किसी श्रुति में आत्मा से सीधी पृथिवी ही प्रगट हुई बतलाई गयी है। यदि वह सृष्टि बनी है तो समस्त श्रुतियों की एकमतता क्यों नही।

इस कथन पर शंका करते हुए कुछ लोग कहते है, वेदान्त सूत्र मे और सूत्रों के भाष्य में जो भगवान शंकराचार्य द्वारा विरचित है, सृष्टि के बनने का प्रतिपादन किया गया है। "जन्माद्यस्वयत:" वह वेदान्त शास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का द्वितीय सूत्र है जो सृष्टि के जन्म स्थिति और लय को विवेचना करता है इसके ऊपर उपर्युक्त भाष्य भी यही विवेचन सत्य स्वीकार करता हुआ पुष्ट करता है फिर आप ऐसा क्या कहते है सृष्टि की रचना हुई ही नही है ?

इसका समाधान देते हुए अजातवाद वाले कहते है श्रुति साधारण जिज्ञासुओं तथा कर्मफलेच्छु विषयी लोगों पर उपकार करती हुई सृष्टि के प्रगट होने का विवेचन करती है। साधारण जिज्ञासु सृष्टि क्रम को सुनकर उसके विपरीत लय चिन्तन करके आत्म ज्ञान तक पहुँच जाते है। बिना क्रय लय चिन्तन सम्भव नही। कर्मफलेच्छु विषयी लोग सृष्टि की रचना सुनकर ईश्वर कर्मफल दाता है इसलिए हमें शुभ कर्म करने चाहिये आस्तिक बनते है। साथ ही विषय पर जाने से उनकी रक्षा होती रहती है। कुछ सृष्टि के विषयों मे चिन्तन करने वाले कहते है कि प्रभु की इच्छामात्र सृष्टि है। इस सिद्धान्त मे ईश्वर को इच्छा का आश्रय मानकर साधारण जीव कोटि मे सस्थापित कर दिया है। उसकी निर्विकारता निराकारता शुद्धता तथा असंगता को इस सिद्धान्त ने ताक पर उठाकर रख दिया है जो वेदान्त वेद्य तत्त्व को सासारिक कोटि मे ला दिया है।

कई लोग काल को ही सृष्टि का हेतु मानते है, कालक्रम से घड़ी की सुइयों की भाँति सब कुछ काल से चल रहा है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, तारे सभी को काल अपने-अपने नियम मे रखता है। जिस

प्रकार प्रत्येक प्रकार के प्राणधारी की उत्पत्ति निश्चित समय में हो जाती है, प्रत्येक फसल निश्चित समय में पक जाती है, प्रत्येक फल-फूल निश्चित ऋतु में ही होता है। बाल्यकाल, जवानी, बुढ़ापा क्रम-क्रम से आते जाते हैं। प्रत्येक नक्षत्र निश्चित समय पर अपनी-अपनी गति में आता है। इससे तो काल द्वारा ही उत्पत्ति लय प्रतीत होता है।

परन्तु काल स्वयं जड़ है उसका स्वयं संचरण भी किसी चेतन के सदा आश्रित है। कालचक्र जिसके आश्रित घूमता हुआ सबको घुमाता है। वास्तविकता तो इस अनिर्वचनीय सत्य की है।

कोई-कोई जीवों के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि की उत्पत्ति मानता है, जिस प्रकार गाय के स्तनों में बछड़े के लिए दूध उतर आता है, उसी प्रकार प्रकृति जीव भोगार्थ प्रेरित होकर सृष्टि बन जाती है। कोई-कोई इस सृष्टि को परमात्मा की क्रीड़ा मानता है। कोई कहता है उसे क्रीड़ा की क्या आवश्यकता है यह तो उसका स्वभाव है।

उपनिषद्

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यम् व्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यम व्यपदेश्यमेकात्म प्रत्यय सारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥7॥

तीन पादों का वर्णन करने के उपरान्त नित्य शुद्ध आत्मा सर्वाधिष्ठान ब्रह्म का विवेचन करते हैं न तो अन्दर की ओर प्रज्ञा आमुख होती है और न बहिर्मुख ही होती है और न ही उभयमुख ही प्रज्ञा होती है। प्रज्ञान घन होकर भी नहीं विराजता, प्रमातृ ज्ञान भी जिसमें सम्भव नहीं। तथा प्रपञ्चता भी जिसमें सिद्ध नहीं होती। जो देखने का विषय नहीं, सांसारिक पदार्थों की भाँति वह व्यवहार्य भी नहीं। जिसको किसी इन्द्रिय से ग्रहण भी नहीं किया जाता, जिसमें सम्भव नहीं तथा प्रपञ्चता भी जिसमें सिद्ध नहीं होती। जो देखने का विषय नहीं, सांसारिक पदार्थों की भाँति वह व्यवहार्य भी किसी लक्षण का आरोप भी नहीं किया जा सकता। मन के चिन्तन में भी जो नहीं आता जिसका किसी माध्यम से निर्देश भी सम्भव नहीं। एक मात्र जो समस्त प्रत्ययों का सार, जिसमें प्रपञ्च अत्यन्त

शान्त हो गया है निस्तरग सागर की भाँति जो शान्त है कल्याण स्वरूप, सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित जो अद्वैत पदार्थ है, जिसे साधारण व्यक्ति तुरीय अथवा चतुर्थ कहते हैं, यह अपना आत्मा है और यही जानने योग्य है।

उपनिषद् कही निषेध मुख प्रतीति से और कही विधि मुख प्रतीति से आत्मा का विवेचन करते है। जहाँ समस्त नामरूपात्मक प्रपञ्च का बाध करके आत्मा को शेष रखा जाता है वहाँ आत्मा का व्यतिरेकी भाव निषेध्य विशेषणो मे दिखाया गया है और जहा अन्वयी भाव दिखाया गया है वहाँ विधेय विशेषण प्रयोग किये गये है।

कारिका

निवृत्तेः सर्वदु.खानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥10॥

समस्त दु खो का मूल द्वैत बुद्धि है द्वैत बुद्धि अविद्या मे जन्मती है। अविद्या के निवृत्त होते ही द्वैत बुद्धि निवृत्त हो जाती है और उसके निवृत्त होते ही दु ख लेश मात्र भी नही रहता। यो तो अपने आपमे आरोपित विश्व विराट, हिरण्यगर्भ तैजस, ईश्वर प्राज्ञ के भाव जो आत्माके तीन पाद कहे है अज्ञानी लोगो को भी अनुभव मे आते है और उसके साथ तादात्म्य करके बडे-बडे शास्त्रज्ञ विद्वान भी भ्रम मे पडे हुये है परन्तु अपने आपका विशुद्ध विज्ञान जो सदा अपने आपसे प्रमाणित और सब प्रपञ्च को प्रकाशित करने वाला है किसी-किसी को होता है।

बडे-बडे शास्त्रज्ञ पडित शास्त्री को पढने-पढाने वाले भी बाल की खाल निकालने वाले भी केवल देवी देवताओ के अनुष्ठान मे उलझे रहते है। कर्मकाण्ड और द्वैतोपासना उनका पिण्ड छोड नही पाती। साधारण प्रजा की भाँति वे भी अनेकानेक अन्धविश्वासो मे ग्रस्त है, अनेक तो तान्त्रिक साधना को ही सब कुछ समझ कर बहकते बहकाते रहते है। वर्ण आश्रम धर्म उनो साथ उनके लगडे की भाति चिपटे हुए है, दुराग्रह और हठ उनको शान्ति क्षेत्र स्वात्मा मे प्रवेश

होने ही नहीं देता। आध्यात्मिक पथ पर चलने वाले भी केवल गुरु भाव में उलझकर मर जाते हैं।

ये सब वस्तुत. अज्ञानी ही है जो केवल अपने मनोकल्पित भाव मे अहम् भावना करके दु.ख पर दु ख उठा रहे है। ये अपने आपको द्वैत प्रपञ्च मे ही गाढ कर जो विश्व, तैजस और प्राज्ञ ही समझे बैठे है सदा आत्मा होते हुए भी आत्मा से विमुख रहते है। जिनका वहम शान्त हुआ, जो अपने आपको अनुभव करके सर्व दु खो से परे हो गये उनको धन्यवाद है।

तो आपका अपना आत्मा समस्त दु खो से अछूता है, जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति मे भी सबको सयम मे रखता है, सबका स्वामी अविनाशी अव्यय एक है। समस्त आरोपित भाव और उनका जनक संकल्प सभी कुछ जिसमे प्रशान्त हुआ-हुआ सदा निवृत्त है ऐसा दिव्य शक्ति सम्पन्न आत्मा तीनो पादो के वाधोपरान्त तुरीय रूप से समस्त आरोपित अवस्थाओ मे भी विराजमान सबसे असग और सबसे अलग है।

कार्य+कारणबद्धौ ताविष्येते विश्व तैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः ॥11॥

आवरण और विक्षेप अज्ञान की ये दो अवस्था कही गई है। नहीं जानना आवरण है और उल्टा जानना विक्षेप है। आवरण और विक्षेप बीज और फल की भाँति समझना चाहिए तो विश्व और तैजसावस्था मे आवरण और विक्षेप दोनो विराजमान रहते हैं तथा प्राज्ञस्थिति मे केवल आवरण अथवा अज्ञान बीज रूप से विराजमान रहता है। इन आरोपित तीनो अवस्थाओ को मिथ्या समझ लेने पर चौथा जो निर्विशेष ब्रह्म है जिसको चौथा भी केवल तीनो की अपेक्षा से कहा गया है उसमे आवरण और विक्षेप दोनो ही नही।

नात्मानं न परं चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्च न सवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥12॥

साधारण समाज निर्विकल्प समाधि तक भी यह ही समझता रहता है कि कुछ न जानना ज्ञान है परन्तु यह घोर अज्ञान ही है।

इसको हम केवल प्राज्ञावस्था ही मानते हैं। जिसमें न अपने को और न किसी दूसरे को जाना जाये, न सत्य को न असत्य को समझा जाये केवल नासमझी ही विराजमान रहे यही प्राज्ञ है। अपना स्वरूप जिसको तुरीया कहा गया है वह आत्मा ही है जो सदा सर्वदृक सर्वज्ञ है।

यहाँ यह शंका उठती है आत्मा तीनों अवस्थाओं में एक रूप विराजमान और सर्वज्ञ है तो प्राज्ञावस्था में कुछ नहीं जानता ऐसा क्यों कहा गया है ? इससे उसका जड़त्व सिद्ध नहीं हो जाता क्या ?

तो इसका ये उत्तर है, आत्मा में विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों अवस्थायें जब आरोपित होती हैं तो दोनों पूर्व वाली अवस्थाओं में जगत का भाव और प्राज्ञ में जगत का अभाव स्वीकार किया गया है। आत्मा विश्व तैजस स्थिति में जगत के भाव को अनुभव करता है और प्राज्ञ स्थिति में जगत के अभाव को अनुभव करता है। कुछ नहीं जानता इसमें दृश्य का निषेध है परन्तु द्रष्टा आत्मा का निषेध नहीं अन्यथा द्रष्टा की अनुपस्थिति में दृश्य के अभाव का साक्षी कौन होगा इसलिए आत्मा सदा वर्तमान और सर्वदृक् सर्वज्ञ है।

द्वैतस्याग्रहण तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुत. प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥13॥
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥14॥
अन्यथा गृह्णात. स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानत ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥15॥

प्राज्ञ और तुरीया दोनो स्थितियों मे द्वैत का अग्रहण तो एक समान ही है इतना अन्तर है प्राज्ञ में अज्ञान बीज रूप से आवरण रूपेण नींद के स्वरूप में विराजमान है और तुरीय आत्मा इससे अछूता है।

विश्व और तैजस दोनों स्थिति स्वप्न निद्रा दोनों से युक्त है क्योंकि जागृत भी स्वप्न ही है क्योंकि यह स्वप्नान्तर मात्र है। प्राज्ञ में केवल निद्रा मात्र विराजती है और तुरीय आत्मा में न निद्रा है, न स्वप्न है।

जागृत और स्वप्न दोनों को स्वप्न मे मिला दिया गया है ऐसा क्यो ?

अन्यथा ग्रहण अर्थात् कुछ का कुछ और समझना स्वप्न है और यह जागृत में भी है तथा स्वप्न मे भी है इसलिए दोनो अवस्थाओ का स्वप्न मे समावेश कर लिया गया है। तत्त्व का न जानना मात्र अर्थात् आवरण मात्र निद्रा है और आवरण और विक्षेप दोनो का क्षय होने पर तुरीय पद की प्राप्ति है। इतना समझना परमावश्यक है विश्व, तैजस प्राज्ञ को पाद कहा गया है और तुरीय को पद स्वीकार किया गया है।

अनादि मायया सुप्तो यदा जीव प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैत बुध्यते तदा ॥16॥

ज्ञान और ज्ञान का फल बतलाते हुए कहते है—अपने आपको अन्यथा रूप मे दिखाने वाली निश्चय कराने वाली माया ही है, जिसे व्यष्टि रूप मे अविद्या कहा जाता है। यह अनादि स्वीकार की गई है क्योंकि उसका कोई प्रारम्भिक देश काल नही है। स्वय देश काल भी माया द्वारा मिथ्या प्रतीति मात्र है। भूल सदा से ही अनादि है यदि उसका आदि पता हो तो उसे भूल कौन कहे। इतना है अनादि होते हुए भी अनन्त नही। अपने आप मे आरोपित भूल अपने आपके ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। जिस प्रकार प्रागभाव अनादि होते हुए भी सान्त है इसी प्रकार माया भी है।

तो इसको प्रागभाव ही क्यो न कह दिया जाये ? माया क्योकि भावरूप स्वीकार की गई है इसलिए इसको प्रागभाव नही कहा जा सकता।

यदि भावरूपा है तो ब्रह्म भी भाव रूप है दो भाव होने से अद्वैत की हानि होगी ? साथ ही भावरूप होने से इसकी निवृत्ति भी नही होगी ?

इसमे भावरूपता अपना नही यह भावरूपता इसके अधिष्ठान आत्मा की है, जिस प्रकार किसी काष्ठ पट को रञ्जित कर दिया जाये तो रग मे अपना अस्तित्व नही काष्ठ पट का अस्तित्व है। इस

रग ने काष्ठ पट को आवृत्त भी किया हुआ है रंग को हटा दिया जाये तो काष्ठ पटोपलब्धि हो जाती है इसी प्रकार माया की भावरूपता आत्मा के अस्तित्व से है और आत्मा को ही इसने आवृत्त किया हुआ है, आत्म ज्ञान से निवृत्त भी हो जाती है।

परन्तु रंग को काष्ट पट से हटाया जा सकता है माया को किस प्रकार अपने आप से हटाया जाये ?

बात ये है रंग और पट की सत्ता दोनों व्यावहारिक है इसलिए दोनों की सम सत्ता है इसके हटाने के लिये झाड़न या हाथ या कोई और वस्तु चाहिये परन्तु आत्मा की सत्ता पारमार्थिक है और माया की सत्ता प्रातिभासिक इसलिए विषम सत्ता है माया आरोपित सांकल्पिक मात्र है इसलिए आत्म ज्ञान से यह निवर्त्य है और कोई उपाय इसमे कारगर नही। जितने भ्रम होते हैं वे अधिष्ठान ज्ञान से निवर्त्य कहे गए हैं। माया भ्रम का ही दूसरा नाम है इसका अधिष्ठान आत्मा है इसलिये आत्म ज्ञान से ही यह निवर्तती है।

इस प्रकार की अनादि माया से प्रसुप्त जीव अपने स्वरूप को जब पहचानता है तो उसका जागना कहा जाता है। अपने स्वरूप को किस प्रकार का जाने, "अजन्मा स्वप्न और निद्रा से अत्यन्त अछूता, अद्वैत तथा एक रस जानना परमात्मा के साथ एकरूप समझना।" अपने आपका ज्ञान वस्तुत. अपने मे आरोपित ईश्वर जीव जगत और परस्पर इनका भेद सदा-सदा को समाप्त हो जाता है। अपने आपको शारीरिक मानसिक सभी विकारो से अछूता अनुभव करे। जागृत स्वप्न सुषुप्ति बुद्धि की अवस्थाओ तथा बाल्यादि शारीरिक अवस्थाओं से अपने आपको अलग समझे।

> प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशय।
> मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥17॥
> विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचिद्।
> उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥18॥

संसार को निवृत्त करने पर तुले हुए कई साधक पूछते हैं कि ज्ञान हो जाने पर तो ससार निवृत्त हो जाता है फिर ज्ञानियों को

भी यह ससार ज्यो का त्यो अज्ञानियो के समान क्यो दिखाई दे रहा है ? यदि दिखाई नही दे रहा तो *यथायोग्य व्यवहार* उनका किस प्रकार बनता है ? उनका मन प्राण इन्द्रिय तथा शरीर सब कुछ किस प्रकार टिका हुआ है ? काम क्रोध आदि मानसिक दोष भूख प्यास आदि प्राण के धर्म तथा सर्दी गर्मी इत्यादि शारीरिक कष्ट जब ज्ञानोपरान्त भी बने रहे तो ज्ञान का लाभ क्या है ? यदि सदा अद्वैत ही है तो ससार का वर्णन क्यो और आचार्य शिष्यादि का कथन क्यो ?

भाई बात यह है कि यदि प्रपञ्च सत्य हो, या इसकी अपनी यदि कोई स्वतन्त्र सत्ता हो तो असशय यह निवृत्त हो भी सके परन्तु जब इसकी सत्ता ही नही तो इसका निवृत्त ही क्या करना । यह द्वैत माया मात्र ही तो है परमार्थ से तो सदा अद्वैत ही है। ज्ञानी और अज्ञानी के निश्चय मे अन्तर यही है कि ज्ञानी अपनी मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओ तथा उनके फल को मिथ्या समझता है।और अपनी आत्मा को निर्विकार समझता है । आत्मा तो अज्ञानी मे भी निर्मल ही है किन्तु वह मानसिक तथा शारीरिक विकारो को आत्मा मे मिलाकर अपने आपको कर्ता भोक्ता मानता है तथा पाप पुण्य से अपने आपको मैला और निर्मल मानता है । अज्ञानी समस्त परिवर्तन-शील मायिक धर्मो को आत्मा के धर्म मानकर निशा दिवस भ्रम चक्र मे भ्रमण करता रहता है ।

अज्ञानी हो या ज्ञानी ससार दोनो को दिखाई भले दवे अन्तर इतना है अज्ञानी जगत से आत्मा को आवृत अवलोकन करता हुआ सदा सासारिक बना रहता है और ज्ञानी आत्मज्ञान की प्रबलता से सासारिकता को अपने ऊपर हावी नही होने देता । अज्ञानी की द्वैत बुद्धि कभी उसे शोकमयता से नही उबरने देती और ज्ञानवान का अद्वैत मे दृढ निश्चय होने के कारण शोक मोह और राग द्वेष उसका बाल बाका नही करते ।

रही *यथायोग्य* व्यवहार की बात ज्ञानी को ससार स्वप्नवत् दिखाई देता है और इसकी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय प्राण अन्त करण कुछ स्वप्न की भाति टिके हुए है साथ ही से सदा अपने-अपने

धर्म में वर्तते रहते हैं। जिस प्रकार नाटक में पात्र अपने-अपने कृत्य अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार करते हैं परन्तु अन्दर में अपनी वास्तविकता और स्वाग की अवास्तविकता को नही भूलते। उसी प्रकार समस्त व्यवहार यथायोग्य निर्वाह करता हुआ भी ब्रह्मवेत्ता अपनी आत्मता को नही भूलता।

कष्ट भी और सुख भी मानसिक धर्म है उनकी स्थिति मानसिक धरातल तक है ज्ञानोपरान्त भी मन के धर्म न्यूनाधिक बने ही रहते हैं इतना अवश्य है ज्ञानी उनको अपने से अलग होकर मन मात्र मे देखता है। इसको समझने के लिये एक दोहा अत्यन्त सार है—

देह धरे का दण्ड है सब काहू को होय।
ज्ञानी काटे ज्ञान से मूरख काटे रोय॥

ज्ञानोपरान्त भी संसार और शरीर क्यों बने रहते हैं? इसका उत्तर यह है निवृत्ति दो प्रकार की होती है एक तो अत्यन्त निवृत्ति और दूसरी बाध निवृत्ति। जहां सोपाधिक भ्रम होता है वहाँ अधिष्ठान ज्ञान से आरोपित का मिथ्यात्व तो समझ मे आ जाता है परन्तु उपाधि के रहने तक आरोपित की सत्ता बनी रहती है। जिस प्रकार पत्थर की शिला में उत्कीर्ण शेर, तब तक भासता रहेगा जब तक शिला का उपस्थिति है। यहाँ शिला उपाधि है। दूसरा निरुपाधिक भ्रम यथा रस्सी मे सर्प है, अधिष्ठान रस्सी के ज्ञान हो जाने पर सर्प की सत्ता रस्सी मे से अत्यन्त निवृत्त हो जाती है।

प्रारब्ध उपाधि है जिससे शरीर और देह के भोगो की संरचना हुई है। आत्म-ज्ञान हो जाने पर इस प्रपञ्च का मिथ्यात्व तो सिद्ध हो जाता है परन्तु प्रारब्ध निवृत्ति तक यह ज्ञानी को भी अज्ञानी की भाति भासता रहेगा।

निज मे यह विकल्प नित्य निवृत्त है, निवृत्त तब हो जब किसी ने कल्पा हो निवृत्त की निवृत्ति क्या? शास्त्र शास्ता शास्त्र की कल्पना तो उपदेश मात्र के लिए है। भला अद्वैत में ज्ञानोपरान्त द्वैत कहाँ?

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥8॥

पहली सप्तम् श्रुति तक आत्मा के पादो का विवेचन किया गया अब उन्ही पादो को ॐकार की मात्राओ के साथ सन्नद्ध करके वताया जाता है क्योकि प्रथम मन्त्र मे ओ३म् का ही विस्तार समस्त प्रपञ्च को वताया गया था परन्तु विवेचन किया आत्मा या ब्रह्म के पादो का इतना ध्यान अवश्य दिलाया गया आत्मा, ब्रह्म, अक्षर, इद सर्वम् सब कुछ ॐकार के ही पर्य्याय है फिर भी ॐकार की मात्रा जिनका धर्म अपने द्वारा तोलना है अछूता ही रहा, उसे अव स्पष्ट करते है—

यह आत्मा जो अपना प्रत्यक् स्वरूप अध्यक्षर ॐकार है उसके पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद हैं। पाद तो वतला ही दिये गए अव मात्राये वतलाते है, अकार, उकार और मकार तीन ही मात्राये ॐकार का है।

जागरित स्थानो वैश्वानरोऽकार प्रथमा मात्राप्तेरादि मत्त्वाद्वाप्नोति ह व सर्वान्कामानादिश्च भवति स एव वेद ॥9॥

जागृत अवस्था ही वैश्वानर नाम वाली त्रिपुटी है जिसमे विश्व-भोक्ता है, उन्नीस मुख है और स्थूल ससार भोग है यह ॐकार की प्रथम मात्रा आकार है। सब स्थूल प्रपञ्च जागृत मे प्राप्त है और आकार आप्ति द्योतक है इसलिए इसकी सज्ञा अकार ठीक है। सबका आदि होने से अकार क्योकि समस्त वर्णमाला अकार से प्रारम्भ होती है और पादो का प्रारम्भ वैश्वानर से होता है इसलिए भी वैश्वानर पाद को अकार मात्रा मे सुशोभित करना श्रेष्ठ ही है। जो इस रहस्य को जानता है उसकी समस्त कामनायें परिपूर्ण होती है और और वह सर्वप्रथम मान्य लोगो की गणना मे आता है।

अपने वैश्वानर भाव मे विश्वासवान व्यक्ति को जो अकार का पुजारी कहा जा सकता है, समस्त स्थूल कामनाये पूर्ण हो ही जाती है। इसका कारण उसका अपने मे आरोपितकर्त्ता भोक्ता भाव ससार के पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करता है। वह इस लोक तथा परलोक को

सत्य समझ कर उन्हीं विद्याओं का पठन पाठन करेगा जो इसे सांसारिक भोगों को प्राप्त करायें। वही कर्म और उपासना करेगा जो इसे इस लोक और परलोक के भोग मिलाय। क्योंकि आत्मा सत्यकाम है इसलिये ये कामनायें जो जगत के धरातल पर परिपूर्ण होनी चाहिये, इसके पुरुषार्थ से अवश्य पूरी होती है।

यह बात निश्चित जान लेनी चाहिए पुरुष जो कुछ भी अपने-आपको देख रहा है वह अपने ही पुरुषार्थ का फल है। कभी-कभी पुरुषार्थ के विपरीत भी परिस्थितियाँ देखी जाती है किन्तु फिर भी पुरुषार्थ विपरीत परिस्थितियों से समाप्त नही होता, थोडा सा अवरुद्ध अवश्य हो जाता है और समय मिलते ही फलीभूत होता ही होता है। प्रारब्धानुसार उपलब्धि का गोपुरम भी प्रारब्ध नही पुरुषार्थ ही खोलता है।

भौतिक धरातल पर भी काव्य, कला, सगीत, विज्ञान कारीगरी कृषि व्यापार आदि-2 अनेकानेक उपलब्धियो का हेतु पुरुषार्थ ही है। अकार की उपासना का अर्थ अकार को आरती उतारना नही अपितु जागृतावस्था मे भौतिक उपयोग की वस्तुओं की उपलब्ध्यर्थ अपने आप मे कर्तव्य निश्चित करना है। समाज मे सन्मान शेखी बघारने से या अपने बाप दादाओ के गुण-गान करने मात्र से प्राप्त नही होता किन्तु निरन्तर विद्याभ्यास तदनुसार कार्यपरता से ही समाज मे व्यक्ति अग्रगण्य होता है।

व्यक्ति की भौतिक उन्नति उसके सम्पन्न तन, धन और परिवार मे सम्बन्ध रखती है। अकार का उपासक सदैव मनोयोग पूर्वक काव्य कला, सगीत और विज्ञान की वृद्धि करता हुआ अपने भौतिकत्व की उपलब्धि द्वारा इस लोक और परलोक की सम्पत्ति तथा वैभव का स्वामी होता है। यद्यपि शास्त्रानुसार भाँति-भाँति के यज्ञ अनुष्ठान पूजा, पाठ, यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र भी भौतिक पदार्थो की उन्नति मे सहायक बताये गये है परन्तु आज के परिप्रेक्ष्य मे यज्ञ का स्वार्थ परित्याग पूर्वक परोपकार, अनुष्ठान का अर्थ विद्याभ्यास, पूजा पाठ का अर्थ परमात्म चिन्तन, यन्त्र का अर्थ मशीनरी, मन्त्र का अर्थ यन्त्र सत्विचार तथा यन्त्र का मानसिक रूप तथा तन्त्र का अर्थ सभी

प्रकार की वैज्ञानिक विधियाँ जो लोगों की तथा अपनी आवश्यकता पूर्ति में सहायक हैं।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादु भयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञान सन्तति समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥10॥

स्वप्न स्थान तैजस का वर्णन श्रुति पूर्व ही कर चुकी है अब मात्रा के साथ सम्बन्ध दिखाते हैं। *ॐकार की द्वितीय मात्रा उकार ही* तैजस है तथा समष्टि में हिरण्यगर्भ को भी उकार द्वारा द्योतन किया गया है। उकार को तैजस के साथ सम्बन्धित करने का कारण बतलाते हुए कहते हैं उत्कर्षत्व और उभयत्व दो हेतु हैं जिस कारण से तैजस का सम्बन्ध उकार से है। जो इस रहस्य को जानता है उसकी ज्ञान सन्तति का उत्कर्ष होता है तथा वह उभय द्वन्द में सम रहता है। इसके कुल में अब्रह्मवित् कोई नहीं होता। कुल में शिष्य परम्परा भी है और सन्तान परम्परा भी परन्तु मुख्य रूप से शिष्य परम्परा में तात्पर्य है।

साधारण सांसारिक धरातल पर भौतिक विषयोपभोग मात्र में रत समाज अकार का उपासक है, उनको प्राथमिक स्थिति मात्र में जीने वाला उन्नत पशु कहा जा सकता है। भले वे कितने ही खोजक अन्वेषक तथा भौतिक विचारक हो उनकी चेतना को उत्कृष्ट परमोन्नत परमोत्कृष्ट नहीं माना जा सकता। जब मानव तनधारी व्यक्ति जीवन की भौतिकता के पीछे किसी और अभौतिक तत्त्व के विचार में सूक्ष्म होकर सूक्ष्मता में प्रवेश करता है तो उसकी उन्नति, उत्कर्ष अग्रसर हुए-हुए माने जा सकते हैं। उकार मात्रा का पुजारी भौतिक भोग के पीछे तथा भौतिक संस्कारों के पीछे एकान्त में विचार सम्पन्न होकर इस पसारे को मन में पसार कर इसके रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करता है।

उकार मात्रा के उपासक में जागृत के संस्कार तथा सुषुप्ति का अज्ञानात्मक अकेलापन दोनों भाव विराजमान होते हैं। उभयत्व का अवलोकन करने के कारण वह सुख दुःख, लाभ-हानि, जय-परा-

जय और मानापमानादि द्वन्दो के उभयत्व को स्वप्न और सुषुप्ति या जागृत और सुषुप्ति का संगम मात्र मानता है। इस मानसिक धरातल पर वह स्थूल प्रसार के हेतु सूत्रात्मा का अनुभव करता है तथा समस्त संसार के मूल मे समष्टि सकल्प को ब्रह्मरूप से देखता है। जबकि जागृत जगत प्रसार मात्र है किसी प्रसार का हेतु नही इसके जानने वाले या उसके कुल का सम्बन्ध पूर्व श्रुति मे ब्रह्म के साथ नही किया गया।

उपासना का जन्म इसी मानसिक वैचारिक अवस्था मे हुआ है यद्यपि यहाँ ब्रह्मपरोक्ष मात्र है हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा भी उसे कहा गया है। इसका कुल भी परोक्षब्रह्मवेत्ता मात्र होता है। इतना अवश्य है इस कुल की उन्नति अवश्य है। उकार का उपासक न तो पूर्ण रूप से भौतिक जगत का त्याग कर पाता है और न ही पूर्णरूपेण ब्रह्म मे टिक पाता है।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एव वेद ॥11॥

सुषुप्त स्थान तदभिमानी प्राज्ञ को ॐकार की मकार मात्रा से सम्बन्धित किया गया है मकार ॐ की मात्रा तृतीय तथा अन्तिम है। जब मानसिक और भौतिक धरातल पर व्यक्ति थक जाता है तो वह समष्टि शुद्ध चेतन के सहारे अज्ञान के अन्धेरे मे चूर-चूर होकर सो जाता है। इस मात्रा मकार को प्राज्ञ (जो सुषुप्ति का अभिमानी चेतन है तथा समष्टि मे जिसे ईश्वर कहा जाता है) के साथ तादात्म्य करने का तात्पर्य क्या है ? इसका उत्तर देते हुए कहते है—

माप डालने तथा पान कर जाने के कारणइस को मकार कहा गया है। सुषुप्ति से स्वप्न और जागृत दोनो इस प्रकार मपे-मपाये प्रगट होते है जिस प्रकार किलो के बट्टे से पदार्थ माप कर नीचे फेक दिए जाते है। सुषुप्ति ही इनको अपने मे पान करके अकेली मुह बन्द किए पडी रहती है।

जो इस रहस्य को जानता है वह सब विषमताओ को पान कर जाता है। सुषुप्ति ही सबसे प्रबल प्रमाण है जो निर्विषय होते हुए भी

परमात्मानन्द की प्रकाशिका शक्ति का जङ्गल अन्धेर में चादर तान लिये पड़ी रहती है। अपने आपकी आनन्दस्वरूपता में सब कुछ विलय करने की प्रेरणा यहीं से मिलती है।

कारिका

विश्वस्यात्व विविक्षायामादि सामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्ति सामान्यमेव च ॥19॥
तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादुभयत्व तथाविधम् ॥20॥
मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौतु लयसामान्यमेव च ॥21॥
त्रिषु धामसु यस्तुल्य सामान्य वेत्ति निश्चत ।
स पूज्य सर्वभूताना वन्द्यश्चैव महामुनि ॥22॥
अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुन प्राज्ञ नामात्रे विद्यते गति ॥23॥

अर्थात—विश्व को अकार इस लिए कहा गया है क्योंकि अकार से समस्त वर्णमालाओं का प्रारम्भ है तथा विश्वता ही समस्त साधनाओं का प्रारम्भ है क्योंकि विश्व सबका उपलब्ध है स्थूल होने के कारण इसी प्रकार अकार सबको सुगम है सुलभ है वर्णमाला का सरलतम अक्षर होने के कारण इसलिए विश्व को अकार मात्रा द्वारा मापना ठीक ठीक ही है।

तैजस विश्व से सूक्ष्म होने के कारण उत्कृष्टता वाली स्थिति है। उसका उत्कर्षत्व स्पष्ट अनुभव में आता है इसलिए अकार की उकार मात्रा से उसको सम्बन्धित करना ठीक है क्योंकि अकार से उकार के उच्चारण करने में उत्कृष्टता तथा उच्चता अर्थात् कठिनता है। साथ ही तैजसावस्था में जागृत और सुषुप्ति दोनो भावो की उपस्थिति है। इसलिए उकार उभयत्व का द्योतक भी है।

सुषुप्ति स्थान जिसे प्राज्ञ नाम से पुकारा जाता है अपने आप में विश्व और तैजस दोनो भावों को पान कर जाता है और मकार

मात्रा भी अकार और उकार दोनों को पान करके मौन हो जाती है इसलिए प्राज्ञ का मकार मात्रा द्वारा निर्देशन युक्ति युक्त ही है। मकार मात्रा अकार और उकार दोनों मात्राओं को उनके द्वारा मापे हुए विश्व और तैजस के साथ-साथ मापती हुई अपने में समेट लेती है इसलिए भी उसका प्राज्ञ के साथ सम्बन्ध ठीक ही है। इस रहस्य को जानने वाला एकत्व भाव को सदा स्मरण रखता है।

महामुनि मननशील का नाम है जबकि ऋषि क्रान्ति दृष्टा का नाम है। मनन शील, जागृत; स्वप्न और सुषुप्ति पर मनन करता है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचता है जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में साक्षी आत्मा सदा विराजमान है वह एकरस निर्विकार है। उसकी इस समझ के कारण वह सभी प्राणियों द्वारा वन्दना करने योग्य है।

अकार विश्व को अपने द्वारा मापता है, उकार तैजस को अपने द्वारा द्योतन करता है और मकार प्राज्ञ का सबोधक है। इस प्रकार ॐकार अर्थात् ओ३म् द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण सभी प्रपञ्च वाच्य वृत्ति या अभिधा वृत्ति द्वारा निरूपण किया गया है जबकि लक्षणावृत्ति द्वारा अमात्रिक अधिष्ठान रूप शुद्ध चेतन जिसको तुरीय कहा जाता है ॐकार द्वारा निर्दिष्ट समझना चाहिए। अमात्रिक स्वस्वरूप आत्मा में तीनों पाद तीनों मात्रायें आरोपित हैं यह ही अधिष्ठान है जिसका स्पष्ट विवेचन आगे स्वयं श्रुति करती है—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ।।12।।

इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता ।।

समस्त मात्राओं द्वारा न मापे जाने वाला जिसको तीन गणना की निवृत्ति पर समझाने के लिये चतुर्थ कहा गया है वस्तुतः व्यवहार में नहीं आता। समस्त व्यवहार इसके सहारे हो रहे हैं परन्तु अपने आप व्यवहार से अछूता है। जिस के जानने पर प्रपन्च जो अज्ञान से भासता है उपशम हो जाता है जो परम कल्याण स्वरूप, सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित है ॐकार आत्मा है। जो इस रहस्य

को जानता है वह आत्मा द्वारा अर्थात् स्वरूप ज्ञान द्वारा स्व में प्रवेश कर जाता है।

माण्डूक्योपनिषद् के केवल बारह ही मन्त्र हैं जिनकी व्याख्या अब तक हो चुकी है परन्तु माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी गौडपादीय कारिका का व्याख्यान आगे तक चलता रहेगा। पाठक यह समझकर अपना अध्ययनक्रम निरन्तर बनाए रखें। साथ ही ध्यान रखें श्रुति की क्रम संख्या श्रुति के साथ और कारिकाओं की क्रम संख्या कारिकाओं के साथ जोडकर लिखी गई है।

कारिका

ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।24।।

ॐकार का अर्थ यहाँ केवल संज्ञामात्र नहीं अपितु चराचर जगत और जगत कल्पना का अधिष्ठान शुद्ध चेतन है, साथ ही शास्त्र प्रतिपादित संज्ञा का भी इससे ग्रहण हो जाता है। जिस प्रकार पदार्थ में पाद कल्पना है उसी प्रकार संज्ञा में मात्रा कल्पना है। पदार्थ जिस प्रकार अपनी अनेकाभिव्यक्ति में एक को, अपनी अखण्डता को आवरित किये बैठा है उसी प्रकार मात्रायें भी अपनी अनेकता द्वारा एकता को ढाँपकर एकता में विराजती हैं। जिस प्रकार पदार्थ अनभिव्यक्त तीन रूप में सीमित अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार अनभिसंज्ञ ॐकार भी त्रैमात्रिक संज्ञा द्वारा ढका हुआ विराजमान है तथा सीमित को निर्देशन करता है।

ॐकार को पाद मात्राओं द्वारा जानकर तथा ज्ञाता रूप से अपने आप में अनुभव करके समस्त भेद भ्रम का बाध करके कुछ भी संशयवान होकर चिन्तन न करें।

क्या मन के धरातल पर व्यक्ति चिन्तन रहित हो सकता है? क्या इन्द्रियों के धरातल पर व्यक्ति अनुभूति रहित हो सकता है।

यह कभी सम्भव नहीं यो चाहे कोई हरे दाग दिखाए भी तो भी यह मान्य नहीं। यहाँ चिन्तन न करने का तात्पर्य अपने विषय में संशयवान न होवे।

युंजीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्य युक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥25॥
प्रणव ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परं स्मृतः ।
अपूर्वोऽनंतरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥26॥
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एव हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥27॥
प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कार मत्वा धीरो न शोचति ॥28॥

अभी-अभी पीछे बताया गया कि कुछ भी चिन्तन न करे और यहाँ फिर प्रणव चिन्तन का उपदेश प्रारम्भ कर दिया ? हम पूर्व बता चुके है साँसारिक प्रबल धारणा के कारण मन सुने हुए को भी अनसुना कर देता है इसलिए पुनः-पुन. नवीन-नवीन युक्तियो के द्वारा निरन्तर तत्त्व श्रवण करते रहना चाहिये। श्रुतियो द्वारा भी इस उपदेश की अनेक बार आवृत्ति इसीलिये की गई है। इस उपदेश मे पुनरुक्ति दोष रूप नही गुण रूप है। संसार के व्यवहार द्वारा भी अनेकानेक विक्षेप डाले जाते रहते है उनका पुन-पुन आत्म श्रवण से ही निरस्त किया जा सकता है।

प्रणव को अद्वैत, निर्भय, सर्व आत्मा, सर्व ब्रह्म ही जानकर इसी मे चित्त को लगाये। एकरस देश काल वस्तु मे परे निजात्म प्रणव मे चित्त लगाने वाले को कही भी, कभी भी किसी मे लेशमात्र भय नही होता।

वैमानिक विवेचित त्रयपाद वाला ब्रह्म अपर ब्रह्म है जिसे शबल ब्रह्म भी कहा जाता है और इसका अधिष्ठान पर ब्रह्म है। ये दोनो प्रणव ही हैं। जिससे पूर्व कोई नही जिससे उपरान्त कोई नही अर्थात् जो पूर्वापर विरहित तत्त्व है। बाहर भीतर की कल्पना से रहित अद्वय अविनाशी प्रणव ही है। सबका आदि मध्य अवसान प्रणव ही है। ज्ञानवान इस रहस्य को जानकर अपने आप मे अर्थात् प्रणव मे प्रवेश कर जाता है।

ये प्रणव ही ईश्वर हुआ-2 सबके हृदय मे विराजमान है। इसी के शासन मे सारा जगत निवास करता है, यही अपनी माया से समस्त जगत को यन्त्रारूढ घटिकाओ की भाँति घुमा रहा है। वस्तुतः

शास्य शासक सभी कुछ सर्वव्यापक ॐकार ही है। इस अपने स्वरूप ॐकार को अपने सहित समस्त जगत में जानते हुए अद्वैत दर्शी अपने आप में विराजमान हो जाता है। क्योंकि वह किसी भी विकल्प को प्राप्त न होकर निराश्रय हुआ-हुआ चिन्ताओं से सदा-सदा को छुट्टी पा जाता है।

द्वैत में निष्ठा वाला, कर्त्तव्य का बोझ ढोने वाला, सांसारिक सम्बन्धों को सत्य समझने वाला, सीमित देह मात्र में अहं भावना वाला पशु कहलाता है। भाँति-2 के समुदायिक वृत्तों में आवृत्त, भाँति-2 के पन्थ सम्प्रदाय का आग्रही, वर्ण, आश्रम और जातिमात्र में बधा हुआ व्यक्तित्त्व कदापि अद्वैत रस का पान नहीं कर सकता। जिनका मुख कभी संसार से रिक्त नहीं उनको अपना रस भला किस प्रकार मिल सकता है। पापात्मा, पुण्यात्मा जो आत्मा को मानते हैं वे दोनों ही बँधे हुए हैं, पाश चाहे स्वर्ण निर्मित है या लौह निर्मित। बाँधने का काम दोनों तुल्य करते हैं।

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥29॥

वस्तुतः जो तत्त्व समस्त मात्राओं से अछूता है, जिसमें अनेक मात्राओं की कल्पना है। अपना निज स्वरूप जिसके जानने पर समस्त द्वैत शान्त हो जाता है। द्वैत के उपशमोपरान्त जिस कल्याण स्वरूप आत्मा की नक्द उपलब्धि होती है वही ॐकार है। वेदान्त-वेद्य, औपनिषद पुरुष, सदा जागृत, सदा वर्तमान, निष्कल, निरञ्जन, निरामय, निर्भय, निश्चिन्त ज्ञान स्वरूप, देशकाल वस्तु से अपरिच्छिन्न, प्रत्यगात्मा अप्रमेय, अमेय, अनुपमेय, सच्चिदानन्द घन परमात्मा ॐकार को जिसने भी अपना आत्मरूप से जाना है वही मुनि है। शेष द्वैत प्रपञ्चरत विषयी पामर जन सदा-सदा आवद्ध है।

इति आगम प्रकरणम्

श्री गौड पादीय कारिकायां द्वितीयम्

अथ ★ वैतथ्य प्रकरणम् ★

वैतथ्य प्रकरणम् ॥2॥

वैतथ्य सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तः स्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥1॥

नाम रूपात्मक दृश्यमान समस्त प्रपञ्च जब तक अपने निश्चय मे सत्य रूप से प्रतिष्ठित है तब तक अद्वैत भाव की उपलब्धि कभी भी सम्भव नही । अनेकता सत्य है या एकता ? अनेकता का जन्म होता है या नही ? अनेकता एकरस है या अनेक रस ? अनेकता का आधार वह स्वय ही है या कोई एकता उसका आधार है ? अनेकता वस्तुत है क्या ? आदि-आदि अनेक प्रश्न अनादि काल से मानव मस्तिष्क को उद्वेलित करते आये है। इन प्रश्नो का उत्तर भी वैदिक काल से दिया जाता रहा है। उपनिषदो मे तो इतना इस तत्त्व पर उन्मुक्त भावना मे विचार किया गया है, जिससे आगे के समस्त विचार उपनिषदो की झूठन मालूम होती है ।

बौद्ध और जैन मत कुछ सामाजिक विषमताओ के कारण जनमानस मे अपना प्रभाव जमाने मे अवश्य सफल हुए परन्तु इनकी दार्शनिक खोज उपनिषदो से कुछ विशेष आगे नही बढ पाई है। ईश्वर कोई सर्वव्यापक जगत का रचयिता है यह बात न तो बौद्ध मानते है और न ही जैन मत इस बात को स्वीकार करता है । केवल एक यही बात या इस सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ और मान्यताये यथा वेद प्रामाण्य तथा यज्ञ प्रामाण्य, वर्ण आश्रम प्रामाण्य आदि भी उनको स्वीकृत नही परन्तु आचार, योग और मुक्ति का विवेचन उपनिषदो का ही उनके पास आ पहुँचा है ।

संसार की दु खरूपता, इस का मूल अविद्या ये भी दोनो सिद्धान्त जैन और बौद्धो के पास उपनिषदो से ही आये है। अनेक जन्म अथवा पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी तथा उसका कारण वासना है यह सिद्धान्त भी जैन और बौद्धो के पास उपनिषदो का ही है। पंच-

शील, पंचरत्न भी पञ्च यमो में अलग कोई नया पदार्थ नही है। कहाँ तक गिनाये यह त्रिवेणी अलग-अलग सी अनेक रूप मे एक होकर चली है। आत्मा के विषय मे जैन बौद्धो ने विचार तो बहुत किया है परन्तु उपनिषदो की भाँति स्पष्टता इसमे नही आ पाई है।

भगवान बुद्ध ने आत्माग्रह को बन्धन का हेतु माना है, यह उनका कथन आत्मा मे आये हुए औपाधिक धर्मो तक तो ठीक है लेकिन औपाधिक धर्मो की निवृत्युपरान्त जो अनिर्वचनीय निज स्वरूप आत्मा जो शेष रहता है उसके विषय मे वे मौन ही रहे है। आगे के बौद्ध दर्शन मे शून्य का विवेचन अनिर्वचनीय रूप मे करके वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म की पुष्टि अवश्य की गई है।

जैन धर्म ने शरीर परिमाण मात्र आत्मा को मानकर उसकी मुक्ति मे भी मानव शरीराकार सिद्ध शिला पर उपस्थिति आत्मा के विषय मे अधूरी जानकारी दी है। समस्त प्रपञ्च जैसा है वैसा ही सत्य मानकर उसका विवेचन कर देना कोई दार्शनिक उन्नति नही मानी जा सकती। सर्वव्यापक आधार बिना निराधार अनेकता किस प्रकार टिकी हुई है यह भी अत्यन्त असमन्जस है। हाँ दार्शनिक विवेचन और उद्भावनायें अवश्य सराहनीय है।

पाश्चात्य दर्शन का तो विवेचन भौतिक आत्मा तक ही सीमित है, जिसमे पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तो का लेश मात्र भी प्रवेश नही। अनेकानेक न्याय (Logic) सिद्धान्तो की खोज तो अवश्य हुई है परन्तु वे काल्पनिक तर्क अपने व्यक्तिगत सिद्धान्तो की सिद्धि मे ही विलय हो जाते है। पूर्व-पूर्व के दार्शनिको को हराना या असफल करने का प्रयास ही पाश्चात्य दर्शन की योग्यता रही है। बहुत कुछ माथा पच्ची के उपरान्त भी आत्मा के विषय मे कोई स्पष्ट विवेचन पाश्चात्य दर्शन मे नही मिलता। उपनिषदो से परिचित होने पर उन्होने भी कुछ विवेचन तो अवश्य किया है परन्तु उनके दर्शन का कोई पारस्परिक आत्म सम्बन्धी सम्प्रदाय नही।

क्रिश्चनिटी ने भी पाश्चात्य जगत मे अपने पैर पसारे और उन्हें ईश्वर की स्पष्ट मान्यता प्रदान की। यद्यपि हजरत मूसा उनसे पूर्व ही यह सिद्धान्त पाश्चात्य समाज के सम्मुख रख चुके थे परन्तु उसका

विस्तार हजरत मूसा उतना न कर पाये जितना हजरत ईसा द्वारा हुआ। आगे चलकर इस्लाम भी इस श्रेणी मे आया जो दार्शनिक रूप मे यहूदी और ईसाइयो का अनुगमन मात्र है। ये तीनो मत स्वर्ग तक की कल्पना से आगे तक न बढ पाये नर्क की भी मान्यता इस सिद्धात मे है। प्राणी अपने कर्मो का फल स्वर्ग और नर्क मे अनन्त काल तक भोगता रहेगा। स्वर्ग मे भगवान का दीदार भी यदा-कदा होता रहेगा।

कुछ इस्लाम मे सूफी फकीर अवश्य ऐसे हुए है जिन्होंने वेदान्त की रहस्यमयी बाते की है जैसे मन्सूर, शम्स तबरेज मौलाना रूम, बू-अलीशाह कलन्दर बुल्लाशाह आदि परन्तु वे इस्लाम की देन नही, वे भारतीय दर्शन के रग मे प्रभावित थे।

चीन के अनेक सन्त बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्रभावित रहे है। या यो कह सकते है बौद्ध धर्म के माध्यम से पूर्व पक्षेण उपनिषदो की चर्चा वहाँ पहुँची और यह सत्य सार्वभौमिक सत्य के रूप मे प्रतिष्ठापित हुआ। हमारा तात्पर्य किसी मत मतान्तर की निन्दा स्तुति नही हमने केवल वेदान्त दर्शन का महत्त्व इस रूप मे प्रकाशित किया है।

अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध धर्म ने ससार को स्वप्न की उपमा दी है। स्वप्न के पदार्थो को मनीषी लोग इसलिए मिथ्या कहते हैं, एक तो ये आन्तरिक प्रतीति है तथा दूसरे वे सीमित अति सूक्ष्म स्थान एक कण्ठ की हिता नामक नाडी मे मन द्वारा देखे जाते है। इन दो हेतुओ के कारण उनका मिथ्यात्व स्पष्ट है।

कारिका { अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥2॥

कई लोग ऐसा मानते है स्वप्नावस्था मे सूक्ष्म शरीर अथवा मन तन मे बाहर जाकर स्वप्न के दृश्या को देखता है?

परन्तु यह कदापि सम्भव नही क्योकि जितने काल पर्यन्त स्वप्न दीखता है उतने काल मे स्वप्न म दीखने वाले स्थान मे कोई जा ही नही सकता फिर बाहर निकल कर किस प्रकार तद्देश मे जा सकता है

और तत्देशस्थ पदार्थों और प्राणियों का देख सकता है। इसलिए पदार्थों को अन्दर ही देखता है।

शंका—पुन यह शंका सन्मुख आती है मन की गति अप्रमेय है। अनुभव और शास्त्र मन की गति को वायु से भी तीव्र बताते हैं इसलिए अल्प काल में वह कहीं भी जा सकता है और कुछ भी देख सकता है ?

इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, प्राणी जागकर स्वप्न के दर्शन स्थान और प्राणियों को यथा स्वप्नस्थ नहीं पाता। किसी मित्र के साथ स्वप्न में मिलता है जलपान करता है परन्तु जागकर मित्र के पास पहुँचकर जब स्वप्न के मौज-मेलों के विषय में पूछता है तो उसका मन इन सब बातों से अनभिज्ञता प्रगट करता है। इससे सिद्ध होता है मन स्वप्न में कहीं भी बाहर निकलकर नहीं जाता अन्दर ही स्वप्न को देखता है, इसलिए स्वप्न प्रपञ्च मिथ्या है।

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥3॥

दूसरा हेतु जो स्वप्न प्रपञ्च के मिथ्यात्व में प्रदान किया है 'संवृतत्वेन हेतुना' अर्थात् जागृतावस्था में रथ, घोड़े, सारथी, रथी आदि के लिये जितना स्थान चाहिये उतना स्वप्नावस्था (जो एक नाड़ी में जिसे बाल का सहस्रवाँ भाग मात्र कहा गया है मन के प्रवेश पर दिखाई गई है। यह होता नहीं इसलिये भी स्वप्न प्रपञ्च मिथ्या है। यह तो हुआ न्याय अब श्रुति का वचन प्रमाण रूप से इस विषय में उद्धृत करते है—

"न तत्र रथा न रथ योगा" यह श्रुति बृहदारण्यक उपनिषद् में आई है जिसमें स्वप्नप्रपञ्च को मिथ्या बतलाते हुए कहा गया है स्वप्नावस्था में न रथ हैं और न रथ के लिये घोड़े और न सारथी और न लगाम आदि इसलिए स्वप्न प्रपञ्च मिथ्या ही है।

अन्तः स्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥4॥

भगवान शंकराचार्य ने इस कारिका पर अत्यन्त न्याय प्रतिपादित

शैली में भाष्य किया है—जागृद्दृश्यानां भावाना वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा—जागृत अवस्था में दृश्यमान भाव मिथ्या है यह प्रतिज्ञा है। 'दृश्यत्वादिति हेतु:'—'दृश्यत्व होने से ये हेतु है।' स्वप्न दृश्य भाववदिनि दृष्टान्त:'—जिस प्रकार स्वप्न दृश्य भाव मिथ्या है यह दृष्टान्त है। "यथा तत्र स्वप्ने दृश्याना भावनां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनय."— जिस प्रकार स्वप्न दृश्य भावो का मिथ्यात्व है इसी प्रकार दृश्यत्व हेतु से जागृत पदार्थों का भी मिथ्यात्व है। यह हुग्रा उपनय। "तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्"—इसलिये जाग्रत पदार्थों का ग्रत्यन्त वैतथ्य है यह निगमन हुआ।

अब केवल स्थान का भेद रह गया स्वप्न का स्थान थोड़ा है ग्रौर जाग्रत का स्थान अधिक है आइये इस अन्तर पर भी थोडा विचार कर लेवे। वेदान्त तत्त्व वेत्ता जानते हैं परमात्मा सर्व व्यापक है उसमे देश काल आदि परमार्थत: लेश मात्र नही जबकि स्वप्न मे नाडी मात्र स्थान तो है ही। स्वप्न का दृष्टा स्वप्न को नाडी मे देखता है परन्तु जाग्रत का दृष्टा तो जाग्रत को अपने मे देखता है जो मूलाविद्या का कार्य है। जाग्रत दृश्य मे देश काल वस्तु सभी कल्पित हैइसलिए बिना देश, बिना काल दीखने वाला जाग्रत प्रपञ्च अत्यन्त मिथ्या है।

स्वप्न जागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥5॥

बहुत विचार करने पर मनीषी इस निश्चय पर पहुँचे है स्वप्न ग्रौर जाग्रदवस्था के दृश्य तक ही द्रष्टा द्वारा एक ही स्थान मे देखे गए है। चेतन आत्मा ही एक दृष्टा है जो जाग्रत और स्वप्न दोनो के प्रपञ्च का अवलोकनकर्त्ता है। चेतन स्वयं ही वह स्थान है जिसमे अविद्या मे जाग्रत और स्वप्न दोनो दीखते है। एक संकल्प ही जाग्रत और स्वप्न दोनो का कल्पक है। इसलिए दोनो मिथ्या हैं क्योंकि उपर्युक्त वर्णन मे निष्कर्ष निकलता है जाग्रत और स्वप्न दोनों की प्रतीति मे सम हेतु हैं।

नासमझ व्यक्ति इस संसार को कितना महत्त्व दिये बैठे है। कोई तो राग करके इसके पाने के लिए बेचैन है और कोई इससे द्वेष कर

के इसश उसकर मारा-मारा फिरता है। कितना परस्पर संघर्ष, कितना वैमनस्य, कितना विरोध इसके चाहने वालों में है। कितना सम्हाल-सम्हाल कर रख रहे हैं इस संसार को। संसार को संसार में रख देय तो कोई बात नहीं संसार को अपने आप में रखने का प्रयास अपने साथ बांधे रखने का प्रयास, अपना बनाये रखने का प्रयत्न, हाय री नासमझी। कितना छलकपट कितनी राजनीति, कितना रुधिर प्रवाह, कितना प्राण हनन, अधिकार हनन इस क्षुद्र जगत के लिये। अपने परायेपन का कितना विमोह ? शरीर धारण की कितनी चिन्ता।

जगत में द्वन्द करने वाला को देखा किस प्रकार प्राण इन्द्रिय तन, मन मार रहे हैं, किस प्रकार उल्टे-सीधे लटक रहे हैं। ये सब संसार का सत्य समझकर ही तो दण्ड पेले जा रहे हैं।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥6॥

वस्तुत वेदान्त मान्यता के अनुसार सत्य की कसौटी क्या है *'त्रैकालाबाध्य सत्यम्' त्रयकाल में जिसका बाध न हो वह सत्य है।* भूतकाल वर्तमान काल और भविष्य काल म जो वस्तु एकरस रह उसका नाम सत्य है। जगत प्रपञ्च उत्पन्न होन से पूर्व नहीं है और प्रलयोपरान्त भी इसकी सत्ता नहीं है इसलिए इसको मिथ्या कहा गया है वतमान म भी जगत की सत्ता मायिक और पराश्रित है। जिस प्रकार रज्जु के आश्रित भ्रमवश प्रतीत होने वाले सर्प की सत्ता न भ्रम से पूर्व है और न भ्रम के निवृत्त हो जाने पर है भ्रमकाल म भी *अविद्यक अथवा मायिक* है। ठठ म पुरुष, *मृगतृष्णा का जल सीप* म चादी आदि पदार्थ मायिक होते हुए भी सत्य म प्रतीत होते हैं। अपने-अपने अधिष्ठान ठूठ, रत, सीप आदि क ज्ञान होने ही इनकी निवृत्ति हो जाती है।

आपको जगत प्रपञ्च को मिथ्या सिद्ध करने मे क्या प्राप्त हो जायेगा ?

क्योंकि अद्वैत आत्मा म जगत की सत्ता खण्डता-खण्डता का हेतु है कर्ता भोक्ता भ्रम हेतु है भोक्ता भाव का हेतु है, भेद या भय का

हेतु है, कर्त्ता भोक्ता भ्रम का हेतु है जन्म-मरण का हेतु है, बन्धन-मुक्ति का हेतु है, मैं मेरे का हेतु है, तन, मन, प्राण, इन्द्रिय, अन्त:-करण के तथा इनके धर्मों की प्रतीति का हेतु है, मिथ्या सम्बन्धों का हेतु है कहाँ तक गिनाये समस्त दु:खो का हेतु है। इसलिये अपने स्वरूप आत्मा जो जगत प्रपञ्च का अधिष्ठान है तथा जगत की मिथ्या प्रतीति जिसके अज्ञान से हो रही है। उसके जानने के लिये इस जगत प्रपञ्च का बाध अत्यन्त आवश्यक है जिसमे आत्मा की प्रत्यगुपस्थिति अनुभव हो सके। सामान्य रूप से अर्थात् सत्ता रूप मे तो आत्मा की प्रतीति इस जगत प्रपञ्च प्रतीति के समय भी हो रही है जो प्रत्येक वस्तु के साथ लगे है के रूप मे विद्यमान है परन्तु इसकी अद्वैतता, ज्ञानस्वरूपता, अजरता, अमरता आदि जगत प्रपञ्च से आवरित है। आत्मा की अद्वैत स्वरूपता तथा अखण्डता का ज्ञान होते ही जगत-प्रपञ्च का बाध हो जाता है।

क्या आत्म-ज्ञानोपरान्त जगत का नाम रूप ज्ञानी को बिलकुल प्रतीत न होगा ?

नाम रूप प्रतीत तो होगा किन्तु उसमे सत्यता प्रतीत न होगी। जिस प्रकार स्वर्ण के अनेक आभूषण यथा नाम रूप स्थान प्रतीत होते ही रहते है चाहे आपने स्वर्ण की अद्वैतता अनुभव कर ली है। समस्त लोह शस्त्रो के नाम रूप लोह के ज्ञानोपरान्त भी प्रतीत होते रहते है लेकिन फिर भी लोह की उनमे अद्वैतता ही है। इसी प्रकार जगत का नामरूपात्मक प्रपंच आत्म ज्ञानोपरान्त भासता तो रहता है किन्तु अज्ञानी की भाँति ज्ञानी को इससे वध बन्धन का दु:ख नही।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता ॥7॥

इतना पढकर किसी के मन मे शका जागृत हो सकती है भ्रम जन्य पदार्थो की सप्रयोजनता तो होती नही जिस प्रकार मृग तृष्णा का जल सिंचाई के काम नही आता, सीप मे प्रतीत होने वाली चाँदी मे आभूषणो का निर्माण नही होता, रस्सी मे भ्रम से प्रतीत होने वाला सर्प किसी को काटता नही, ठूठ मे प्रतीत होने वाला चोर किसी की चोरी नही करता। आकाश की नीलता कटाहता किसी

के इससे डरकर मारा-मारा फिरता है। कितना परस्पर संघर्ष, कितना वैमनस्य, कितना विरोध इसके चाहने वालों में है। कितना सम्हाल-सम्हाल कर रख रहे हैं इस संसार को। संसार को संसार में रखें तब तो कोई बात नहीं संसार को अपने आप में रखने का प्रयास, अपने साथ बाँधे रखने का प्रयास, अपना बनाये रखने का प्रयत्न, हाय री नासमझी। कितना छलकपट कितनी राजनीति, कितना रुधिर प्रवाह, कितना प्राण हनन, अधिकार हनन इस क्षुद्र जगत के लिये। अपने परायेपन का कितना विमोह? शरीर धारण की कितनी चिन्ता।

जगत से द्वेष करने वालों को देखो किस प्रकार प्राण इन्द्रिय तन, मन मार रहे हैं, किस प्रकार उल्टे-सीधे लटक रहे हैं। ये सब संसार को सत्य समझकर ही तो दण्ड पेले जा रहे है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥6॥

वस्तुत वेदान्त मान्यता के अनुसार सत्य की कसौटी क्या है "त्रैकालाबाध्यं सत्यम्" त्रयकाल में जिसका बाध न हो वह सत्य है। भूतकाल वर्तमान काल और भविष्य काल में जो वस्तु एकरस रह उसका नाम सत्य है। जगत प्रपञ्च उत्पन्न होने से पूर्व नहीं है और प्रलयोपरान्त भी इसकी सत्ता नहीं है इसलिए इसको मिथ्या कहा गया है, वर्तमान में भी जगत की सत्ता मायिक और पराश्रित है। जिस प्रकार रज्जु के आश्रित भ्रमवश प्रतीत होने वाले सर्प की सत्ता न भ्रम से पूर्व है और न भ्रम के निवृत्त हो जाने पर है, भ्रमकाल में भी अविद्यक अथवा मायिक है। ठूठ में पुरुष, मृगतृष्णा का जल सीप में चाँदी आदि पदार्थ मायिक होते हुए भी सत्य से प्रतीत होते हैं। अपने-अपने अधिष्ठान ठूठ, रेत, सीप आदि के ज्ञान होते ही इनकी निवृत्ति हो जाती है।

आपको जगत प्रपञ्च को मिथ्या सिद्ध करने से क्या प्राप्त हो जायेगा?

क्योंकि अद्वैत आत्मा में जगत की सत्ता खण्डता-खण्डता का हेतु है, कर्त्ता भोक्ता भ्रम हेतु है, भोक्ता भाव का हेतु है, भेद या भय का

हेतु है, कर्त्ता भोक्ता भ्रम का हेतु है जन्म-मरण का हेतु है, बन्धन-मुक्ति का हेतु है, मैं मेरे का हेतु है, तन, मन, प्राण, इन्द्रिय, अन्त.-करण के तथा इनके धर्मो की प्रतीति का हेतु है, मिथ्या सम्बन्धों का हेतु है कहाँ तक गिनाये समस्त दु.खो का हेतु है। इसलिये अपने स्वरूप आत्मा जो जगत प्रपञ्च का अधिष्ठान है तथा जगत की मिथ्या प्रतीति जिसके अज्ञान से हो रही है। उसके जानने के लिये इस जगत प्रपञ्च का बाध अत्यन्त आवश्यक है जिससे आत्मा की प्रत्यगुपस्थिति अनुभव हो सके। सामान्य रूप से अर्थात् सत्ता रूप मे तो आत्मा की प्रतीति इस जगत प्रपञ्च प्रतीति के समय भी हो रही है जो प्रत्येक वस्तु के साथ लगे है के रूप में विद्यमान है परन्तु इसकी अद्वैतता, ज्ञानस्वरूपता, अजरता, अमरता आदि जगत प्रपञ्च से आवरित है। आत्मा की अद्वैत स्वरूपता तथा अखण्डता का ज्ञान होते ही जगत-प्रपञ्च का बाध हो जाता है।

क्या आत्म-ज्ञानोपरान्त जगत का नाम रूप ज्ञानी को बिलकुल प्रतीत न होगा ?

नाम रूप प्रतीत तो होगा किन्तु उसमें सत्यता प्रतीत न होगी। जिस प्रकार स्वर्ण के अनेक आभूषण यथा नाम रूप स्थान प्रतीत होते ही रहते है चाहे आपने स्वर्ण की अद्वैतता अनुभव कर ली है। समस्त लौह शस्त्रो के नाम रूप लौह के ज्ञानोपरान्त भी प्रतीत होने रहते है लेकिन फिर भी लौह की उनमे अद्वैतता ही है। इसी प्रकार जगत का नामरूपात्मक प्रपंच आत्म ज्ञानोपरान्त भासता तो रहता है किन्तु अज्ञानी की भाँति ज्ञानी को इसमे वध बन्धन का दु:ख नही।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता ॥7॥

इतना पढकर किसी के मन मे शंका जागृत हो सकती है भ्रम जन्य पदार्थो की सप्रयोजनता तो होती नही जिस प्रकार मृग तृष्णा का जल सिचाई के काम नही आता, सीप मे प्रतीत होने वाली चाँदी मे आभूषणो का निर्माण नही होता, रस्सी में भ्रम से प्रतीत होने वाला सर्प किसी को काटता नहीं, ठूठ मे प्रतीत होने वाला चोर किसी की चोरी नही करता। आकाश की नीलता कटाहता किसी

नाम से नहीं आते परन्तु जगत के पदार्थों की प्रयोजनता तो सबके सन्मुख स्पष्ट है। जगत में पानी से प्यास बुझती है, खाना खाने से भूख निवृत्त होती है, कपड़ा से ठण्ड से बचाव होता है, हथियारों से शत्रु का दमन होता है, आभूषणों का उपयोग तन की शोभा बढ़ाने में होता है। जगत में अनुकूल पदार्थ या प्राणी मिलने से प्रसन्नता और प्रतिकूल प्राणी आदि मिलने से अप्रसन्नता होती है इसलिये जगत को मिथ्या नहीं माना जा सकता ?

इस शंका का समाधान करते हुये कहते हैं स्वप्न के पदार्थ सभी जानते हैं कि मिथ्या हैं परन्तु उनमें भी सप्रयोजनता देखने को जाग्रत जगत जैसी ही मिलती है। स्वप्न में भी पानी भोजन वस्त्र आदि स्वप्न की प्यास भूख और ठण्ड को दूर करने वाले हैं इसी प्रकार जाग्रत जगत के पदार्थ भले सप्रयोजक हैं, परन्तु फिर भी मिथ्या हैं। साथ में आदि अन्त वाले होने के कारण चाहे जाग्रत के पदार्थ हों या स्वप्न के सभी मिथ्या ही हैं। मिथ्या होने के कारण आत्मा की अद्वैतता इनसे छिन्न भिन्न नहीं होती क्योंकि आरोपित पदार्थ अधिष्ठान को अपने धर्मों से दूषित नहीं करता।

> अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम्।
> तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥8॥

पाठक के हृदय में पुनः यह शंका जागृत हो सकती है जगत के पदार्थ कदापि मिथ्या नहीं हो सकते क्योंकि यह शास्त्र वर्णित देवताओं को उनके दिव्य स्थानों में उनके वाहन तथा विभूतियों सहित उसी प्रकार देखता है जैसा शास्त्र में श्रवण किया है। उनकी शक्ति और शस्त्र सभी कुछ शास्त्र वर्णित ही दिखाई देते हैं। कोई तो इस धरा पर ही उन्हें ध्यान में देखता है कोई परलोक में जाकर देखता है और कोई दूसरे जन्म में देखता है। क्या यह दर्शन मिथ्या है ? यदि मिथ्या है तो इसके बताने वाला शास्त्र मिथ्या है ? यदि सत्य है तो आपका कथन मिथ्या है और जगत सत्य है ?

इस शंका का समाधान करते हुये कहते हैं जिस प्रकार लोक में किसी को सम्कार किसी भी प्रकार के डाल दिये जायें उसको वैसा ही भासने लगता है। जैसे एक बालक को चार बालकों ने

कह दिया "सामने वाले पीपल पर भूत रहते हैं। रात को वे निकलते है तो नाचते गाते मौज मेला करते हैं। रात को कोई वहाँ जाये तो उसे पकड लेते है। अब तो वह बालक रात को यदि पीपल के नीचे जाये तो सचमुच वह भूत देखता है और वह पकडा जाता है। यदि उसने न सुना होता यदि उसे सुनने से सस्कार न पडे होते तो पीपल के नीचे उसे रात को भूत कदापि न पकडते।

इसी प्रकार लोक लोकान्तर की कथा अपरिपक्व बुद्धि वाले विद्वान बालक कहते है अविद्वान बालक सुनते है। देवता उनके वाहन, अस्त्र-शस्त्र वस्त्र आदि की बालक बात सुनकर मस्तिष्क मे बिठा लेते है और यहाँ या वहाँ ध्यान मे या मकान मे यथा सस्कार देखने लगते है। जिस प्रकार जाग्रत के सस्कार स्वप्न दर्शन मे हेतु है उसी प्रकार शास्त्र के ससार परलोक दर्शन मे हेतु है। जब जगत समस्त ही मिथ्या है तब शास्त्र कौन से कोने मे रह गया। रही हमारी बात वह भी भले ही मिथ्या हो, परन्तु मिथ्या ससार की प्रघातक और आपको जगाने वाली है जिसमे आप अपने अकेलेपन का अनुभव कर सके।

हाँ शास्त्र का लोक परलोक वर्णन धर्माधर्म, पुण्यापुण्य वर्णन उन बालकों के लिये उपयोगी है जो ससार के ग्राहक है वह भी धर्मपूर्वक।

स्वप्न वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पित त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीत सद्दृष्ट वैतथ्यमेतयो. ॥ ॥9॥

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पित त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीत सद्युक्त वैतथ्यमेतयो ॥10॥

जिज्ञासु के हृदय मे पुन शका का उदय होता है वह पूछता है स्वप्न का सारा प्रपच तो चित्त के अन्दर प्रतीत होता है इसलिए उसे कल्पित या असत् कहा जाता है, परन्तु जगत का प्रपच बाहर दिखाई देता है इसे मिथ्या किस प्रकार कहा जा सकता है?

वस्तुत मिर बात ये है जिस प्रकार स्वप्न का प्रपच अन्त करण के अन्दर प्रतीत होता है उसी प्रकार जाग्रत का प्रपच सर्वव्यापक चेतन के अन्दर प्रतीत होता है। स्वप्न का प्रपच (आपको जागकर ऐसा ज्ञान पैदा होता है कि अन्दर देखा गया है) स्वप्नावस्था म

बाहर ही तो प्रतीत होता है उसी प्रकार अज्ञानकाल में ऐसा प्रतीत होता है कि यह जगत प्रपंच मुझ से बाहर है परन्तु स्वरूप बोध रूपी जाग्रत में पता लगता है कि सारा नाम रूपात्मक प्रपंच मुझ आत्मा में ही मिथ्या प्रतीति है।

स्वप्नावस्था का देश काल जाग्रत के अनुसार कुछ तो माना ही गया है परन्तु जाग्रतावस्था का देश काल आत्मा में लेश मात्र भी नहीं कोरी एक मान्यता मात्र है। इसलिये स्वप्नावस्था तथा तदस्थ प्रपंच एवं जाग्रतावस्था तथा तदस्थ प्रपंच दोनों मिथ्या हैं। ये अन्दर ही चित्त द्वारा कल्पित तथा आत्मा द्वारा प्रकाशित हैं।

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥11॥
कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः ॥12॥

पुनः विषयावगमनोपरान्त शंका करते हुये साधक पूछता है, "यदि जाग्रत और स्वप्न दोनों भेद वाले स्थान तथा उनमें भासित प्रपंच दोनों ही मिथ्या हैं, तो इनकी कल्पना करने वाला कौन है? तथा इन भेदों को कौन जानता है?" इस शंका का स्पष्टीकरण करते हुये थोड़ा विचार करें तो स्पष्ट होगा विषय और उनका ज्ञाता अलग-अलग होते हैं परन्तु आपके कथनानुसार विषयों का कल्पक विषयों को अपने में कल्पकर देखता है। इस प्रकार विषय और उसका ज्ञाता *एक ही है ये किस प्रकार सम्भव है?*

इसका समाधान करते हुये कहते हैं अपने आप ही आत्म देव अपने संकल्प या माया से अपने आप में संसार को कल्प लेते हैं और आप ही उनको जानते हैं ऐसा वेदान्त का निश्चय है। यहाँ पर आत्माश्रय दोष की शंका हो सकती है आप ही अपने आपको किस प्रकार देख सकता है? इस शंका का समाधान उपनिषदों में बहुत स्थानों पर आया है "यत्र द्वैतमिव भवति तदेतर इतरं पश्यति इतर इतरं विजानाति" जहां द्वैत जैसा होता है वहाँ एक दूसरे को देखता है एक दूसरे को जानता है। यहां इव शब्द ध्यान देने योग्य है जिसका तात्पर्य है द्वैत जैसा अर्थात् द्वैत वस्तुतः कल्पित है। इस कल्पना के

आश्रित देखने वाले और देगे जाने वाले दो की काल्पनिक उपस्थिति मे विषय और विषयी की द्वैत कल्पना मे जानना बन सकता है।

वास्तविकता ज्ञान होने पर एक ऋषि चौंककर कहता है, "हाऊ हाऊ हाऊ अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् अहमन्नादोऽहमनन्नादोऽहमन्नाद ।" अरे बडा आश्चर्य है मै ही अन्न हूँ मै ही अन्न का खाने वाला हूँ। अद्वैत दृष्टि की प्रशसा करते हुये कहते है "तत्र को मोह: क. शोक एकत्वमनुपश्यत:" आत्मा का एकत्व अनुभव करने वाले को कहाँ शोक और मोह कहाँ। एकत्व अवलोकन न करने वाले की निन्दा करते हुये कहते है, "मृत्यो. स, मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"। आत्मा मे जगत के नानात्व को देखने वाला मृत्यु से बराबर मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। यहाँ नानापना सा कहकर उसके मिथ्यात्व को स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार स्वय मे स्वयं मे नानापना सा कल्पकर यह देव देख रहा है।

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ।।13।।

ये देवो का देव आत्मा (भ्रम से जिसको जीवात्मा मानकर परमात्मा से अलग कर दिया गया है जिसमे देश की सीमा मानकर अणुता कल्प ली गयी है। बुद्धि की अल्पज्ञता मे जिसको अल्पज्ञ समझ लिया गया है। वस्तुओं को सत्य स्वीकार करके जिसको भोक्ता मान लिया गया है। क्रियाओ को जिसमे कल्पकर कर्त्ता मान लिया गया है। मन के विकारो की छाया से जिसको विकारी मान लिया गया है। भाँति-भाँति के काल्पनिक लेप जिस निर्लेप पर चढा दिये गये है। सच्चिदानन्द ब्रह्म अनादि कालीन प्रवाह से अनादि कालीन संसार की अनादि वासनाओं के कारण जो इसके चित्त मे विराजमान है उनके अपने आप मे ही बाहर सा स्थित हुये देखता है। अत्यन्त आश्चर्य है जिस प्रकार की वासना स्थिर हुई है उसी प्रकार दृढ होकर सामने आ गई है।

यह समस्त रचना समष्टि चित्त द्वारा आत्मा के आश्रित खड़ी की गई है और यह आत्मा से प्रकाशित हो रही है। वेदान्त सिद्धान्तानुसार दो काम तो माया करती है और दो काम आत्मा से

होते हैं। आवरण करना और नई सरचना यह दो कार्य माया के हैं। सत्ता देना और स्फुर्ति देना ये काम आत्मा से होते हैं। समझने की बात यह है आत्मा म लेश मात्र क्रिया नहीं परन्तु जगत प्रपच उससे अपने आप स्फुरित हो उठता है। जो भी पदार्थ बनता है आत्मा के आश्रित बनता है आत्म समस्त कल्पनाओं का आश्रय होने के कारण समस्त कल्पनाओं को सत्ता प्रदान करता है। जिस प्रकार कपड़े पर चित्र बनाया जाये उस चित्र की सत्ता कपड़ा ही होता है, उसी प्रकार समस्त प्रपच की सत्ता आत्मा ही है।

माया आत्मा से अलग है या आत्मारूप ही है ? आत्मा से अलग है तो द्वैत होगा ? यदि आत्मरूप ही है तो उसका कार्य अलग क्या प्रतीत हो रहा है ?

माया और आत्मा का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है, तथा माया और माया का कार्य भी अनिर्वचनीय है।

> चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहि ।
> कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्य हेतक ॥14॥
> अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहि ।
> कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥15॥

अन्त और बाह्य प्रपच दो प्रकार का है, एक स्वप्न जन्य और दूसरा मनोरथ-जन्य। अन्त —दोनो प्रकार का प्रपच जितनी देर चित्त फुरता है उतनी देर तक है इसलिए उसको चित्तकाल मात्र सीमित माना गया है। बाह्य प्रपच चित्त काल पर्यन्त तो जीव सृजना है और माया काल पर्य्यन्त ईश्वर सृजना है। ईश्वर सृजना के बिना चित्त बाह्य भाष्य सृजना कदापि नहीं कर सकता इसलिये बाह्य प्रपच द्वयकालावधि मात्र माना गया है।

विचार करने पर स्वप्न और जाग्रत दोनो प्रकार की रचना चित्तकाल पर्यन्त है। समष्टि चित्तकाल पर्य्यन्त समस्त रचना है जीव का चित्त और उसकी सृजना भी समष्टि चित्त रचना के अन्तर्गत ही है इसलिये अन्त और बाह्य सभी भाव कल्पित ही हैं।

अन्दर के अव्यक्त और बाहर के भाव स्पष्ट हैं यह अन्तर केवल

इन्द्रियों के कारण प्रतीत होता है अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से चित्त की रचना स्पष्ट कही जाती है और केवल चित्तमात्र की रचना अव्यक्त कही जाती है। विचार करने पर दोनों रचना कल्पित ही है।

स्वप्न की रचना चित्तमात्र की अव्यक्त रचना कही गई है परन्तु स्वप्न में भी ज्ञानेन्द्रिय और उनके विषय तथा उनकी स्पष्टता अपने प्रति तो पूर्ण रूपेण होती ही है और स्वप्न के संसार के सम्मुख भी स्पष्टता स्वाप्निक भावों की इसी प्रकार होती है जिस प्रकार जाग्रत के भावों की स्पष्टता जाग्रत संसार के प्रति। इस प्रकार स्वप्न संसार और बाह्य संसार के समस्त भाव एक समान कल्पित ही हैं।

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् ।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथा स्मृतिः ॥16॥

यह कल्पना आत्मा में किस प्रकार उत्थान को प्राप्त होती है? इसका कारण क्या? और यह किस प्रकार की होती है?

उपर्युक्त शंकाओं का समाधान करते हुये कहते हैं 'वैसे तो समस्त प्रपंच क्षणिक है और उसमें एक साथ ही कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन ये आठ प्रकार का कारक भाव, क्रिया और इसका फल इन सब का जन्म अर्थात् फुरना का उत्थान होता है।। लेकिन समझने के लिये यथा व्यवहार क्रम वर्णन करते हैं—सर्व प्रथम जीव भाव की कल्पना होती है जिससे मैं पना भासने लगता है। जीव अपने आप में मैं कर्त्ता हूँ भोक्ता हूँ आदि भावों को जगाकर जैसी समझ और स्मृति होती है वैसे ही बाह्य और आध्यात्मिक भावों की रचना कर लेता है।

जीव स्वयं जीवाभास है फिर उसकी कल्पना में और अनेक जीवाभास भासने लगते हैं और इस प्रकार यह अनन्त जीव और अनन्त संसार एक आत्मा में भासने लगते हैं।

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥17॥

एक आत्मा मे अनन्त भाव किस प्रकार कल्प लिये जाते है इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते है—

जिस प्रकार मन्द प्रकाश अथवा मन्द अन्धकार मे पडी हुई रस्सी को कई लोग देखें और उनको वह कई रूपो मे भासे, जैसे एक को सर्प प्रतीत हो, दूसरे को जलधारा भासे, तीसरे को माला दृष्टि आये और चतुर्थ उसे पृथिवी की दरार समझे। उसी प्रकार आत्मा मे, आत्मा के अज्ञान के कारण, जीवो को अपने सहित अनेक प्रकार का ससार भासता है। वेदान्त के इस मुख्य सिद्धान्त तक किसी-किसी भाग्यवान की ही पहुँच होती है अन्यथा अनेक प्रकार का जगत भास्य शास्त्र जाल और द्वैत सस्कार उसको शक्ति करके पुन प्रपच मे ले आते हैं। अद्वैत निजात्मा से द्वैतवादी को अत्यन्त भय प्रतीत होता है उसको लगता है मेरा और मेरे ससार का विनाश होकर शेष रहेगा क्या ? वह नही जानता जिस मैं और मेरे की तू रखवाली कर रहा है उसी का नाम माया है तथा उसी से तेरी वास्तविकता ढकी हुई है।

अपने आपको सीमित मानने वाले अपने आपका उद्घाटन कर तू असीम है। अपने आप मे जगत के कल्पक इस कल्पना से तू अत्यन्त महान् है। चाहे तू अपने आप को कुछ समझ रहा है इस समझी हुई कल्पना से तू अछूता है।

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मा विनिश्चिय. ॥18॥

उपर्युक्त कारिका से सम्बन्ध स्मरण कराते हुये कहते है जिस प्रकार रज्जु का यथार्थ ज्ञान होते ही जितने विकल्प नासमझी से रस्सी मे कल्पे गये थे सारे निवृत्त हो जाते है। उसी प्रकार अद्वैत निज स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होते ही समस्त नामरूपात्मक विकल्प निवृत्त हो जाते है। परोक्ष ज्ञान जिसमे अज्ञान का असत्वापादक अश निवृत्त हो जाता है 'आत्मा है' अथवा परमात्मा है' इतना मात्र है। इसका फल परमात्मा के प्रति श्रद्धामात्र जागृत होता है। क्योंकि आत्मा-परमात्मा-एकता अनुभव नही की गई क्यो कि जीव ब्रह्म की एकता अनुभव नहीं की गई। इसलिए यह

ज्ञान अपरोक्ष नही और जगत प्रपच का मिथ्यात्व और आत्मा का सत्यत्व अद्वैतत्व मान इसमे परिज्ञात नही हुआ अपरोक्ष नही।

जगत का मिथ्यात्व आत्मा के अद्वैत ज्ञान मे हेतु है। आत्मा परमात्मा एक ही सत्ता है। साधारण व्यक्ति अनेक नामो तथा अनेक कामो को देखकर परमात्मा मे अनेकत्व देखने लगता है और द्वैत बुद्धि का शिकार होकर राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो मे भ्रमता फिरता है जबकि आत्मवेत्ता इन अनेक खिलौनो से खेलता हुआ भी उपादानत्व के एकत्व को नही भूलता।

प्राणादिभिरनन्तैस्तु भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य ययायं मोहितः स्वयम् ॥19॥

भगवान की माया वडी विचित्र है, यह जिस परमात्मा के आश्रित खडी है उन्ही परमात्मा को आवृत करके उन्ही को विपर्यय मे डालकर मोह लेती है उन्ही मे अनेक कल्पना खडी करके उन्ही को कितने प्रकार का भ्रम उन्ही के विषय मे जागृत कर देती है। इस जगत कल्पना का अधिष्ठान अपने आप होता हुआ भी कभी कहता है प्राण ही सब कुछ है प्राण निकल जाने पर कुछ भी जीवित नही रहता। आगे की कारिकाओ के द्वारा कुछ विकल्प दिखाये जायेगे, जिनसे पता चलेगा कितने प्रकार की अनन्त कल्पनाये अपने विषय मे खडी कर ली गई है।

प्राण इति प्राणविदो भूतानि च तद्विदः।
गुण इति गुणविदस्तत्वानीति च तद्विदः ॥20॥
पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति तद्विद ॥21॥
वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥22॥
सूक्ष्म इति सूक्ष्मविद स्थूल इति च तद्विद.।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥23॥
काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः।
वादा इति वादविदो भुवनानीति च तद्विदः ॥24॥

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः।
चित्तम् इति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥25॥
पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥26॥
लोकाल्लोक विदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः।
स्त्रीपुन्नपुंसक लैङ्गा. परापरमथापरे ॥27॥
सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः।
स्थितिरिति स्थितविदः सर्वं चेह तु सर्वदा ॥28॥

उपनिषद मे प्राणो की महानता के ऊपर एक गाथा आती है जिसमे कहा गया है एक बार इन्द्रियों के देवता परस्पर सघर्ष करने लगे कि मै बडा हूँ, कि मैं बडा हूँ। आपस मे निर्णय हुआ भाई एक-एक वर्ष तक एक-एक प्रत्येक अपनी-अपनी बारी से तन से बाहर चला जाये, जिसके जाने से शरीर तथा उसमे रहने वाली समस्त शक्ति समाप्त हो जाये समझो वही बडा है उसी ने शरीर को धारण किया हुआ है। पहले कान की देवता दिशायें बाहर चली गई और एक वर्ष के बाद वापिस आई तो देखा शरीर का कार्य पूर्ववत् चल रहा है। आकर पूछा मेरे बिना तुम लोग किस प्रकार जीवित रहे ? तो सभी अन्य देवताओं ने उत्तर दिया, "जिस प्रकार बहरा व्यक्ति जीता है।" इस प्रकार एक-एक वर्ष सभी देवताओं ने तन से बाहर रहकर देखा। परन्तु तन का कार्य यथापूर्वयथावत् चलता रहा।

फिर प्राण ने कहा, मै भी निकल कर देखू ?" सबने उत्तर दिया, "क्यो नही तुम भी निकल कर देखो।" जैसे ही प्राण निकलने लगा सारी देहस्थ चेतना समाप्त होने लगी और देवताओ के बिस्तर गोल होने लगे तो सभी देवताओ ने प्राण को बडा मानकर स्तुति की और कहा, "आप हम सभी मे ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हैं हम आपके ही आश्रित जीवित है आप महादेव हो"। इसलिए प्राण का ही विस्तार सारा ससार है प्राण से जन्मकर प्राण से स्थित और प्राण ही मे सारा प्रपच लय हो जाता है। 'प्राण वै ब्रह्म' इस नाम के अनुसार प्राण ही ब्रह्म है।

पाञ्चभौतिक जगत के पुजारी भूतों अर्थात् आकाश आदि भूतों को ही सब कुछ मानते हैं। प्राण जो वायु का विकार मात्र मानकर उसकी गणना भूतों में ही कर ली जाती है। भूतों के एक विशेष मात्रा में समिश्रण से चेतना का जन्म हो जाता है और उस समिश्रण के निवृत्त हो जाने पर चेतना भूतों में विलीन हो जाती है। भगवान इनसे अलग कुछ नही भौतिक आकर्षण विकर्षण से जगत अपने आप कार्य रत है। कई लोग आकाश का निषेध करके चार भूत मानों का मेल ही संसार को मानते हैं।

सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनो गुणो को मानने वाले कहते हैं विष्णु, ब्रह्मा और महेश ये तीनों देव ही तीन गुणों के नाम है। इनके एक स्वरूप प्रकृति ही ॐकार है। ये गुण ही अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रिय, प्राण कर्मेन्द्रिय, स्थूल शरीर और ससार बनते है और चेतना इन्ही तीनो गुणो से प्रगट होती है और निवृत्त होकर इन्ही मे मिल जाती है। इनसे अलग परमात्मा केवल कल्पना मात्र है। तीनों लोक तीनों शरीर तीनों अवस्था सब कुछ ये तीन गुण ही हैं।

तत्त्वों के पुजारी अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार जड चेतन रूप कितने ही तत्त्व मानते हैं और इन्ही मे संसार का खेल होता रहता है ऐसा मत उनके द्वारा संस्थापित किया जाता है। उनका कथन है यथोपलब्ध संसार की व्याख्या वर्तमान के अनुसार ही होनी चाहिये। जड़ चेतन दो प्रकार का विभाग यहाँ स्पष्ट है तथा सबको प्रत्यक्ष है। इनका नाम जीव अजीव इस प्रकार दो विभाग किये है। लोक भी दो हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष जिसका प्रत्यक्ष केवल योगियो को होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष लोक के दो विभाग है शुभ और अशुभ। लोकानुसार आकाश भी दो है लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश मे बद्ध और अलोकाकाश मे मुक्त जीव रहते हैं। स्वधर्म मे विराजमानता मुक्ति और परधर्मों से संयुक्तता बन्धन है। यह मत बहुजीववाद स्वीकार करता है तथा शरीरानुसार उसका आकार मानता है।

पाद विद् अर्थात् विभाजनवादी ससार तथा आत्मा की अनेक पाद तथा अनेक अवस्था मानते है। यद्यपि माण्डूक्योपनिषद् में भी

पादो की व्याख्या की गई है परन्तु पाद मात्र वर्णन करना उपनिषद् का लक्ष्य नहीं। पादवादियों की भाषा का सहारा लेकर अपाद अमात्रिक निर्गुण आत्मा का विवेचन उपनिषद् का लक्ष्य है। पाद-वादी आत्मा के त्रयपाद और त्रय अवस्था तथा त्रय मात्रा यथार्थ परमार्थ रूप मे मानते हैं। अमात्रिक पदार्थ में उनका विश्वास नहीं प्राज्ञावस्था या ईश्वर प्राप्ति मात्र ही उनकी मुक्ति है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से पुजारी केवल विषयो को ही सब कुछ मानते हैं। इनके मतानुसार विषयों की स्थूल अवस्था भूत है और सूक्ष्म अवस्था भोक्ता है। विषय मध्यस्थ की भांति इनका सम्बन्ध बनाये रखते है तभी तो भोजन मे सदैव अनजाने ही विषय चिन्तन होता रहता है। विषयोपलब्धि ही स्वस्वरूप प्राप्ति है जिसमें भोक्ता अपने आपको परमानन्दमय अनुभव करता है। सभी देवी-देवता, मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतंग विषयों की ही सन्तान है विषयों की ओर आकर्षित है। इन्हीं में यह खेल चल रहा है।

लोक वेत्ताओं का कथन है यदि आश्रय न हो तो कुछ रह ही नही सकता। भगवान तक को भी कोई न कोई वैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक आदि लोक बिना टिकाव नही मिलता। देव, असुर आदि सभी अच्छा से अच्छा लोक पाने का प्रयत्न करते हैं। ऋषि महर्षि सभी अच्छा से अच्छा लोक पाने का प्रयत्न करते है। वेद, यज्ञ, दान, तप, श्राद्ध, तर्पण सभी किसी न किसी लोक की प्राप्ति अपना-अपना फल मानते मनाते है। ब्रह्मलोक, सतलोक आदि सभी लोक ही तो है। इसलिए लौकिकता मात्र ही सत्य है अलौकिक तो कल्पना-मात्र है।

देवताओं के पुजारी कहते है बस देवता ही सब कुछ है। जिस प्रकार तम्बू मे बल्ली होती है उनको निकाल लिया जाये तो तम्बू नीचे गिर जाता है। लोक देवताओं पर टिके हुये है शरीर देवताओं पर टिके हुये है, मन्त्र देवताओं पर टिके हुये है। सभी कामनाये देवी देवता पूरा करते है। अवतारों ने भी देवता वृन्द को मनाया है। कितने मन्दिर, कितनी गुफायें, कितने पुराण, कितनी मूर्ति सब देवताओं का खेल है। देवों से आगे कुछ नहीं।

वेद वेत्ता कहते है यदि वेद द्वारा देवता स्तुति और देव स्वरूप वर्णन और दव भोजन का प्रबन्ध न किया जायेतो देवताओ को कौन माने। वेदो के पाठ से वातावरण पवित्र होता है। वेदानुसार ही जगत की रचना हुई है, वेद द्वारा ही लोक परलोक का पता चलता है, वेद द्वारा लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है। वेद मन्त्रो द्वारा सभी देवता बँधे हुये है, वेदमन्त्रो के अनुसार सन्ध्या वन्दन होता। वेद समस्त वाणियो का शिक्षक है वेद न होता तो जगत गूगा होता इसलिये वेद से अतिरिक्त कुछ भी नही। वेदान्त भी वेद का एक भाग है।

यज्ञ के पुजारियों का कथन है यज्ञ ही सार रूप है "यज्ञं वै विष्णु", यज्ञं वै ब्रह्मा", यज्ञं वै शिवः", यज्ञं वै इन्द्र."। इन वेद वाक्यो द्वारा यज्ञ को सर्व देव मय माना है। यज्ञ के द्वारा सभी प्रकार की उन्नति होती है। वेद याज्ञदव के भाट है जो सदैव यज्ञो की स्तुति गाते रहते है। सभी देवताओ को यज्ञ द्वारा भोजन प्राप्त होता है यदि यज्ञो का अनुष्ठान न हो तो देव वृन्द भूखे मर जायें। भगवान विष्णु यज्ञ का ही एक नाम है। वेदो का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ ही है इसलिये यज्ञ ही परमार्थ तत्त्व है, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, मेघ, धरा सभी यज्ञ करके कृत्य-कृत्य होते है।

सूक्ष्म विज्ञान वादियो का मत है विज्ञान ही सब कुछ है यही बाहर भीतर सब कुछ बना है। क्षणिक विज्ञान ही क्षणिक ससार के पीछे इसका क्षणिकता का हेतु है। कही दृष्टि डाले वही आपको क्षणिकता दृष्टि आयेगी। स्थूलता के पीछे सूक्ष्मता ही सब कुछ है। ऐसा ये मतवाले मानते है। सन्तानवाद ससार को उसके पूर्व क्षण से जोडते हुये आगे के क्षण से जोड़ता है।

स्थूलतावादी सर्वास्तिवादी मतवाले कहते है वस्तुत जगत के पीछे कोई विज्ञान कार्य नही कर रहा है। यह विज्ञान तो स्थूल सम्मिश्रण का फल है। स्थूल शरीर और स्थूल संसार यह स्पष्ट हमे दृष्टि गोचर है इसके अतिरिक्त सूक्ष्मता कुछ नही। स्थूल सूर्य, चन्द्रमा, तारे, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आकाश आदि मे व्यर्थ देवता कल्पना करके लोग कहानी किस्से घड लेते है।

भोक्ता वादियों का मत है यदि भोक्ता न हो तो सब कुछ व्यर्थ है। स्वर्ग का भोग विलास, धरा का समस्त सौंदर्य सभी कुछ भोक्ता की एक दृष्टि पाने को लालायित हैं। ये खिलते फूल चटखती कलियां, गदराते फल, पकती फसलें, टपकते रस, चढता मदमाता यौवन सभी कुछ भोक्ता की ओर से कृपा दृष्टि पाने को आतुर हैं। भोक्ता का अस्तित्व ही भोज्य की सिद्धि का हेतु है। इसलिये भोक्ता ही सब कुछ है।

भोज्य की सेना कहती है भोज्य न हो तो भोक्ता क्या करेगा ? भोज्य का भोक्ता दास है। भोक्ता भोज्यार्थ भागा-भागा फिरता है भोक्ता भी नाममात्र का भोक्ता है अन्यथा वह भी किसी न किसी का भोज्य है। भगवान स्वयं भक्त का भोज्य है इस प्रकार भोज्य भगवान और भक्त भोक्ता है। भोज्य ही सब कुछ है।

मूर्त्त के पुजारी कहते है जब तक यह बना बनाया खेल है सभी तक इसका मूल्य है। आपके तन की पूजा होती है, आत्मा किसने देखा है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर सभी मूर्त्त है। माता-पिता भाई बन्धु सभी मूर्त्त हैं स्वर्ग नरक मे सभी मूर्त्तता के पुजारी है। सभी पुरुष बालक जवान वृद्ध सभी मूर्त्त है। यहाँ तक भगवान मूर्त्त है अमूर्त्त तो कल्पना है।

अमूर्त्त के पुजारी कहते हैं मूर्त्त तो छिन्न-भिन्न हो जाने वाला है इसलिए अमूर्त्त ही वास्तविकता है। भगवान अमूर्त्त है जो कभी विनष्ट नही होता। "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत" गीता का यह श्लोक अमूर्त्त का प्रतिपादक है। अमूर्त्त भाव है, सूर्य तो केवल उसका स्थूल रूप है इसलिए अन्त मे उसका अभाव है। अमूर्त्त भगवान अर्थात् सार सर्वस्व है।

कालोपासक कहते है काल ही सब कुछ है। काल के अधीन, काल के डण्डे से सब कुछ नाच रहा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, उपेन्द्र आदि सभी देव काल की फसल मात्र हैं। सबको यही उत्पन्न करता है, सभी को अपनी इच्छानुसार यही टिकाता है और सभी का यही लय कर लेता है। यह कालवादियों का कथन है।

दिशावादी कहते हैं काल अपना पसारा दिशाओ के आश्रित ही

पसारता है। समस्त दिग्पाल दिशाओं के आश्रित हैं समस्त देवता दिशाओ मे ही अपनी नगरी वसाये हुये हैं। यदि दिशा न हो पूर्व के विना इन्द्र कहाँ रहे, पश्चिम के विना वरुण का आसन कहाँ लगे, उत्तर के विना कुवेर कहाँ विराजमान हों, दक्षिण के विना यमराज कहाँ निवास करे ? इस प्रकार दिशाओ के विना आवागमन कहाँ हो ? दिशा ही यथार्थता है।

वाद वेत्ता कहते हैं अरे श्रीमान, "कारण कार्य पर समस्त ससार स्थिर है और कारण कार्य परम्परा ही वाद है। प्रत्येक कार्य अपने पीछे कारण लिये हुये है और प्रत्येक कार्य आगे वाली प्रतिक्रियाओ का कारण है। ऐसा कोई कारण नही जो कार्य न हो और ऐसा कोई कार्य नही जो कारण न हो। चाहे आप इसे प्राण रयि कह चाहे आप इसे सम्भूति असम्भूति कहे, चाहे आप इसे अव्यक्त व्यक्त कहे, चाहे आप इसे शक्ति पदार्थ कहे, चाहे आप इसे अर्द्ध नारीश्वर कहे और चाहे आप इसे आत्मा परमात्मा कहे। वस्तुत कारण कार्य ही परस्पर वाद के जनक हैं।

चौदह भुवन वेत्ताओ का कथन है अरे महाराज! सप्त ऊपर सप्त नीचे चौदह भुवन मिलकर भगवान विराट का शरीर वना है। इसी तन को समस्त जीव गण का निवास तथा समस्त देवताओ का आश्रय माना गया है। भू लोक इसी विराट की नाभि है, जिससे विराट जीवन पाता है। सत लोक से पाताल लोक तक यही जीवो का यात्रा क्रम है। विराट से अलग कहीं और कोई सत्ता नही और ये चौदह भुवन हैं।

मन के उपासकों का कथन है ये सब कुछ मन की कल्पना है। मन ही प्रसार पाकर चराचर जगत वन गया है। मन ही देव दानव असुर मनुष्य पशु पक्षी कीट पतग सब कुछ है। मन के सकोच होते ही सारा जगत सिकुड जाता है और मन के पसरते ही सब जगत पसर जाता है इसलिये मन ही सार है।

बुद्धि को सब कुछ मानने वाले कहते हैं मन तो बुद्धि का पुत्र है। उसका जन्म निश्चय से हुआ जो बुद्धि का धर्म है। यदि ज्ञान न हो तो मन मूढ हो जाता है कुछ भी सोचता विचारता नहीं इसलिये बुद्धि ही आत्मा परमात्मा जगत सब कुछ है।

चित्तवादी कहते हैं चिन्तन, पूर्व संस्कारों आदि से ज्ञान होता है जिसे बुद्धि कहा जाता है चित्त की पुत्री है इसलिये चित्त सार है।

धर्माधर्म वादी कहते है भाई साहब सब कुछ कर्मो का फल है यही शास्त्रो में धर्माधर्म पुण्यापुण्य कहे जाते है इसी को शुभाशुभ कहा जाता है। उन्नति-अवनति, मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजय सभी कुछ इसी धर्माधर्म का फल है। सूर्य, चन्द्रमा, नभ वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि सभी धर्म के आधीन है।

पच्चीस तत्त्व वादी साँख्य शास्त्र वालो का कथन है प्रकृति जो चौबीस विकारो वाली है और पुरुष जो असग है बस इन्ही की मिली-जुली लीला का नाम समस्त जगत है। प्रकृति असंग पुरुष के सन्मुख ससार परोसती है और फिर अपने आप संसार से हटाकर मुक्ति परोस देती है यही पच्चीस तत्त्व ही सब कुछ है।

छब्बीस तत्त्व मानने वाले योग शास्त्र पुजारी कहते हैं कि जड प्रकृति स्वयं कुछ नही कर सकती। इसका अधिपति सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान परमात्मा है जिसकी आज्ञा से यह खेल चलता है। इस प्रकार पुरुष दो हैं आत्मा परमात्मा। शेष साख्य वादियों का कथन ठीक है। आत्मा को परमात्मा का सान्निध्य पाने का प्रयत्न करना चाहिये।

इकत्तीस तत्त्व मानने वाले उपर्युक्त छब्बीस तत्त्वो मे पाँच प्राणो को और जोड कर अपनी इकत्तीसी सिद्ध करते है और कहते है प्राण केवल वायु का विकार मात्र नही है किन्तु उसका जन्म सुना जाता है और उसमे हेतु पांचो भूतो का रजोगुण माना जाता है इसलिये इकत्तीस तत्त्व मानने चाहियें।

अनन्त तत्त्व वादी कहते है तत्त्वो को सीमा मे नही बाँधा जा सकता प्रत्येक परमाणु अपने आप से एक स्वतन्त्र तत्त्व है कोई किसी का कारण कार्य नही। केवल यों ही उनको हम कारण-कार्य परम्परा मे जोड लेते हैं। पाँच हाथ की उंगलियो को छोटी-बडी देखकर कारण कार्य सिद्धान्त मानना या क्रमपूर्वक यथा रविवार के उपरान्त सोमवार आता है तो क्या रविवार सोमवार का कारण है? साथ-साथ रहते-रहते छोटे बड़े पदार्थ एक-दूसरे के कारण कार्य नही। क्रम

से आने वाले रविवार सोमवार की भाँति एक दूसरे का कारण कार्य नही। इसलिये तत्त्व अनन्त है।

लोक वेत्ताओं का कथन है वस्तुत: जिन लोकों में प्राणी निवास करते हैं वही प्रत्यक्ष में ही लोक सब कुछ है इनका पदार्थ ही सत्य है इनके प्राणी ही सत्य हैं। समस्त लोकपाल लोकाश्रित होकर ही लोकपालन करते है इसलिये लोक ही सत्य है।

गृहस्थादि आश्रम वाले कहते हैं। व्यक्ति का जीवन किसी न किसी आश्रम के ही अधीन है। समस्त शास्त्र आश्रमस्थ व्यक्ति को ही उपदेश करते है। *आश्रम और वर्ण यही उन्नति के सोपान है।* वर्ण आश्रम की मर्यादा भगवान को भी नियमन में रखती है। व्यक्ति को निराश्रम एक भी दिन नही रहना चाहिये। वेद पुराण सभी आश्रमवाद की प्रशंसा में लिखे गये है इसलिये आश्रम ही सब कुछ है।

शृंगार रस पुजारी तथा वैयाकरण लिङ्ग अर्थात् स्त्री पुलिंग तथा नपुंसक इन्ही लिङ्गों की उपासना मे रत हैं। शृङ्गार रस वाले कहते है, "*सारा संसार स्त्री पुरुष के व्यवहार पर टिका हुआ है* पशु पक्षी कीट पतंग तक के जीवन मे एक यही अनुभूत रस है इसको निकालने के बाद शेष कुछ नही रहता। समस्त नातेदारी इसी भाव पर टिकी हुई है।

वैयाकरण कहते हैं इन तीन लिङ्गो से ही सारा व्यवहार सिद्ध होता है इसलिये ये लिङ्ग ही सार सर्वस्व है।

परापर पुजारी परोक्ष पर और अपरोक्ष अपर संसार को ही सब कुछ मानते हैं। उनका कथन है व्यक्त कार्य सदा अव्यक्त मे प्रगट होकर अव्यक्त में समा जाता है और फिर कार्य रूप से व्यक्त हो जाता है। ये ही पर अपर, कारण रूप से अव्यक्त पर और कार्य रूप से अपर इन दो की लीला संसार है।

सृष्टि के साथ तीन घटनाएँ जुड़ी हुई है प्रगटन, स्थिति और लय। इन तीनों अवस्थाओं के पुजारी अलग-अलग हैं। अपनी-अपनी बात को दृढ करते है। इनके अतिरिक्त अगणित कल्पनायें कल्प-कल्प कर इतने मत माने गये है जितने पृथिवी के रजकण, जितने गगन के तारे, जितनी समुद्र जल की बूंदें। यदि ये कहा जाये जितने प्राणधारी

अब तक हो चुके है, जितने प्राणधारी आज हैं और आगे जितने प्राणधारी होंगे सब के अलग-अलग अगणित मत है। और तो और एक-एक के अगणित मत है।

भय के कारण, सुरक्षित जीने की इच्छा से कुछेक बातो पर समझौता हो जाता है तो इस प्रकार ये एक मतवादियो की कुछ सेना तैयार हो जाती है, अन्यथा मत तो क्षण-क्षण मे बदलते हैं। आज तक कल्पनाओ की लहर विचार सागर मे नित्य प्रति आती रहती है। अवतार, पैगम्बर, वली, औलिया, पीर, ऋषि, महात्मा सभी मत मान्यताओ का परिभाषा है।

यं भाव दर्शयेद्यस्य तं भावं स पश्यति।
तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैतितम् ॥29॥

भाषा धर्म वातावरण शास्ता अनुभव आपत्ति उपलब्धि आदि के द्वारा जो जो भाव जिसको सिखा दिया गया है, बस उसी-उसी भाव की सत्यता स्वीकार करके उसी भाव का वह ससार मे दर्शन करता है। यहाँ तक उस सीखे हुये भाव का उस पर रग चढता है कि वह तद्‌रूप हो जाता है। सारे जीवन भर उसी भाव की रक्षा मे प्राणपण से लगा रहता है। किसी मतवादियो के समुदाय को देखिये किस प्रकार साम्प्रदायिक भलाई बुराई की हठ और उसकी रखवाली करते है।

अपनी बात न मानने वाले को मार-मार कर एक-एक समुदाय ने दूसरे समुदाय का पूर्ण रूपेण सफाया कर दिया है। यदि मारने की शक्ति न हो तो शत्रुता द्वेष या उद्वेग तो दिलो मे बना ही रहता है। सारी पृथिवी मे विरोधी भावनाओ, विरोधी भाषा, विरोधी इतिहास तथा विरोधी धर्मो के परस्पर युद्ध से अनेक बार विनाश हुआ है। अपने-अपने मत, मजहब, विचारो की हठधर्मियो ने प्राणी समुदाय को अनेक-अनेक जन्मो तक कष्ट प्रदान किया है।

बडे-बडे आत्मज्ञान, एकता, अद्वैत का उपदेश करने वाले अपनी अपनी अभ्यासित, सस्कार द्वारा प्राप्त नियमो के इतने दास होते हैं कि उनका दम निकलते-निकलते भी वे उनका परित्याग नही करते और व्यवहार के नाम पर मूढता को पालते रहते हैं।

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ॥30॥

कल्पक एक है कल्पनाये अनेक है वस्तुतः ये सब कल्पक मे भिन्न नही है। इन अपृथग् कल्पनाओ से अपने आपको पृथक् सा और अनेक सा अवलोकन करता है। जो इस रहस्य को पहचानता है कि कल्पना, कल्पित दोनो कल्पक रूप ही है वह निडर होकर वेदार्थ को यथायोग्य कल्प सकता है उनसे वेदार्थ का कभी अयथार्थ अर्थ नही होता। जिसको अद्वैतात्मा निज स्वरूप का ज्ञान नही उसकी लौकिक और वैदिक सारी अर्थ कल्पनाये बन्धन रूप अनर्थ को देने वाली है।

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥31॥

जिस प्रकार स्वप्न, जिस प्रकार मायावी की माया और जिस प्रकार गन्धर्व नगर की कल्पना मिथ्या है उसी प्रकार वेदान्त विचक्षण आत्मस्थ महान पुरुषो ने जगत का अनुभव किया है। उसे मिथ्या माना है। जो व्यक्ति केवल बहिर्मुख विषयापेक्षी स्थूल चक्षु साधारण विचार शैली के वंशधर है उनका ससार का मिथ्यात्व दृष्टिगत नही हो सकता परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि, ऊहापोह शक्ति सम्पन्न, स्वानुभव संयुक्त शास्त्र वेत्ता महान साधक है उन्हीं को ससार का मिथ्यात्व समझ मे आता है। जिनको अभी भोगने की लालसा है ऐसे भोग लिप्सु अनेक युक्तियो से संसार को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। वस्तुत. है तो मिथ्या ही।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधक।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥32॥

अखड अद्वैत सत्ता मे कल्पित समस्त नाम-रूपात्मक प्रपञ्च के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर, शेष रहता है एक भूमा आत्मा जो चराचर जगत की वास्तविकता है। अपने आपको अखड अद्वैत सत्ता अनुभव कर लेने पर किस की उत्पत्ति शेष रह जाती है और किसका प्रलय होने की कल्पना की जाए। न तो सत्य उत्पन्न होता है क्योकि वह पूर्व ही वर्तमान है भयकाल मे एकरस विराजमान होने के कारण

और न ही असत्य उत्पन्न होता है क्योंकि वन्ध्या पुत्र के असत् होने से उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता इसी प्रकार संसार असत् होने से उत्पन्न नहीं होता।

जब कुछ उत्पन्न नही होता तो निरोध किसका हो। उत्पत्ति, स्थिति, लय केवल साधारण प्रज्ञा वाले व्यक्तियो को आत्म-ज्ञान कराने के लिए संसार का आरोप किया गया है। जिनकी समझ संसार को सत्य मानती है उनकी भाषा में ही श्रुति भगवती संसार को युक्ति संगत ढंग से वर्णन करके आत्मा को उसकी कारणरूपता कथन करती है। तदोपरान्त कारण की निर्विकारता बताकर संसार की मायारूपता का वर्णन किया जाता है और इस प्रकार संसार का अपवाद कर दिया जाता है। जब संसार मिथ्या प्रतीति मात्र ही है तो उसकी उत्पत्ति क्या और उसकी प्रलय क्या? एक मात्र निर्विकार आत्मा अखण्ड रूप से विराजमान है न जिसमें नाम है और न रूप ही है।

बन्धन होता है अपने से अलग किसी दूसरे पदार्थ से जब अपने से अलग कुछ वस्तु है ही नहीं फिर आत्मा में बन्धन कहाँ से आया। आत्मा सच्चिदानन्द घन एकरस देशकाल वस्तु की कल्पना से विरहित है उसको भला कौन बाँध सकता है? जब बन्धन ही सत्य नही ठहरता तो उसके निवृत्ति के लिए साधना कैसी? साधना की अनुपस्थिति मे साधकत्व भी सिद्ध नही होता। साधना और साधक भाव भी स्वप्न कल्पना मात्र है।

परम सत्य सदा मुक्त अनन्त वैभव असीम महिमा सम्पन्न आत्मा जब बँधा हुआ ही नही तो मुमुक्षुत्व भी अपने-आपको ठीक-ठीक न समझकर है। अपने-आप मे कोई भी पदार्थ अपने आप से अलग बधन का हेतु है ही नही फिर बन्धन की प्रतीति केवल मायामात्र नही तो और क्या है? बन्धन ही स्वप्न है तो मुमुक्षता तथा मुक्ति भी साधारण समझ वालो के लिए कहानी मात्र ही नही तो और क्या है?

परमार्थता तो यही है न कोई प्रगटन है और न प्रलय है। न कोई बन्धा हुआ है और न कोई साधक है मुमुक्षता भी परमार्थ दृष्टि मे किसी मे नही और मुक्ति की बात भी बातो का खिलौना मात्र है।

बौद्ध-भिक्षु भदन्त नागार्जुन ने भी अपनी माध्यमिक कारिका में इसी सत्य का उद्घाटन किया है और व्यावहारिक तथा धार्मिक सभी धारणाओं को महती युक्तियों से खंडन किया है।

भावैरसद्भिरेवाय मद्वयेन च कल्पितः ।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद्वयता शिवाः ॥33॥

अद्वयता परमार्थ रूप से सत्य तथा कल्याण स्वरूप है। भाँति-भाँति के लोक और लौकिक भावों के द्वारा यह आत्मा अव्यय स्वरूप आत्मा ने ही कल्पकर अनेकता के भ्रम में फँसा दी है। अपनी ही कल्पना मे अपने में अनेक प्रकार के भाव कल्पकर अपने आपको भी अनेक मानकर द्वैत खड़ा कर लिया गया है। अपने आपमे अलग कोई भी और सत्ता संसार को कल्पने वाली नही क्योंकि अपने आपसे अलग सत्ता केवल कल्पना मात्र है।

हे जीते जागते नारायण ! काल का कल्पक तेरे अतिरिक्त और भला कौन है और साथ ही उसको जानने वाला भी तू स्वयं ही है। काल ने कभी कहकर कि मैं काल हूं साक्षी नही दी, स्वयं तूने ही कहा है कि यह काल है। देश की कल्पना भी हे चेतनदेव तेरे अतिरिक्त और कौन करने वाला है। हे ज्ञानस्वरूप समस्त देशों को जानने वाला तुझ से अतिरिक्त और कौन है ? देश ने कभी नही कहा कि मैं अमुक देश हूँ मै अमुक देश हूँ। तूने ही उनके नाम रखकर इनको पुकारा है। हे जगदाधार ! तेरे अतिरिक्त कौन भला वस्तुओं की कल्पना करने वाला है और हे भयकालावाध्य अजज्ञान मूर्ति तेरे अतिरिक्त और भला कौन इनको जानने वाला है।

राम, कृष्ण, ईसा, मूसा, बुद्ध, मुहम्मद, शंकर, महावीर, जुरथुस्त कनफ्यूशश सभी को तू सम्हाले हुए है। सभी के गुण गागाकर सभी के अनुभव का लेखा-जोखा सुना-सुना कर तूने ही इनको अमर बनाया हुआ है। समस्त नक्षत्र भूत भौतिक चित्त चैत्तिक धरा द्यौ सभी को बनाने वाला कल्पने वाला तू स्वयं आप है। अनेक रूप जो भूतकाल में हुए अनेक रूप जिनकी प्रतीति वर्तमान काल में हो रही है या भविष्य की गुफा मे छिपे अनेक रूप तथा उनके नाम इन सभी के रूप

मेआत्मा ही स्वय आत्मा को भास रहा है। ये तो रही वनने की कहानी, अब न बनने की बात भी सुने।

संकल्पो के शक्ल जोडकर मौन रूप से अखड भाव का निश्चय इन भावो मे एक भाव को देखने से होता है। अपने आप मे जागकर देख कुछ भी बना बिगडा नही। मकल्पो की आवरणमयी काली मसि द्वारा बौद्धिक तूलिका से जो अपने आप अनेकता की करतूत की है उमको धो-पोछकर देख तू ज्यो-का-त्यो अकेला नकद नारायण ब्रह्म है। मारा-मारा फिरता है तेरा संकल्प अपने साकल्पिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, पता नहीं कितने देवी-देव, पीर-पैगम्बर कल्पना के सहारे खडा करके मनाता फिरता है परन्तु अपने आप शान्त नही होकर देता। एक बार अद्वयता का रस पान करके अपने मूल मे सिमट कर मौन हो जाये तो अपने आपमे निवृत्त होकर अद्वय हो जाये। ये सांकल्पिक भोक्ता-भाव भोग्य-भाव और भोग के साधन सभी अशिव है और शिव है अपने आपकी अद्वयता।

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
ना पृथङ्नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥34॥

इस अनेकतामय मायावी प्रपञ्च को किस प्रकार ग्रहण करें? किस प्रकार समझें बडा असमञ्जस है इस विषय मे। इस नानात्व को आत्मभाव से ग्रहण करने का प्रयत्न करें तो भी सम्भव नही, क्योंकि आत्मभाव से ग्रहण करने पर आत्मा के अतिरिक्त कुछ अलग से इसकी सिद्धि नही होती। यदि इसको स्वयं इस नानात्व की सत्ता स्वीकार करके समझना चाहे तो भी क्षण-क्षण मे परिवर्तन के कारण इसकी एकरूपता ही नही और विचार करने पर मे निवृत्त हो जाती है इसलिए नानात्व को नानात्व भाव से समझने पर कुछ पल्ले नही पडता। तो इसके समझने ग्रहण करने का प्रयत्न एक असफल मिथ्या प्रयास मात्र है।

इसको अपने से पृथक् समझा जाये तो इसका देश काल कोई सिद्ध न होकर आत्माश्रित होने के कारण इसका पृथकत्व सिद्ध नही होता। अपृथक् समझा जाये तो आत्मा मे आत्मा के अतिरिक्त और कल्पना लेश मात्र भी दिखती नही। बहुत कुछ झक मारने के उपरान्त

इस कष्टप्रद मायाप्रपञ्च को अनिर्वचनीय स्वप्नवत कल्पित कहकर तत्ववेत्ताओं ने इस पर विचार करना छोड़कर अपनी शिव स्वरूप अद्वयता में चैन पाई है। नैयायिकों की चकचक जैमिनी कृत पूर्व मीमांसा की बकझक योगियों की चकमक सभी ओर से मन हटाकर अपने आप में अक्रिया और कहाँ शान्ति प्राप्त हो सकती है। ऊपर से थोपा हुआ ब्रह्म या परमात्मा अल्लाह या गोड (God) सभी सिर-दर्दी नहीं तो और क्या है?

वीत रागभय क्रोधैर्मुनिभिर्वेद पारगै ।
निर्विकल्पो ह्यय दृष्ट॰ प्रपञ्चोपशमोऽद्वय ॥35॥

मानसिक दुर्भावों के निरोध बिना तत्त्व के समझने की योग्यता स्वप्न में भी नहीं होती और तत्त्व के समझे बिना मन के दुर्भाव कदापि निवृत्त नहीं हो सकते। समझने योग्य साधारण रूप से मन का संयम तो मुमुक्षु अवस्था में हो ही जाता है परन्तु फिर भी मिथ्यात्व का दर्शन न होने के कारण विषयों की उपेक्षा पूर्ण रूप से सम्भव नहीं। साधक का नियमन जोश से तो होता है परन्तु इस नियमन में घृणा द्वेष का भाव बना रहता है। सिद्ध आत्मवेत्ता का वैराग्य समझकर होता है इसलिए उसमें प्राणी या पदार्थ के प्रति न राग होता है और न द्वेष।

अपने स्वरूप आत्मा को सच्चिदानन्द अद्वैत भाव से जानकर जिस मुनि के हृदय से भय, राग और क्रोध लेश मात्र नहीं रहा यों प्रारब्धवश किसी को इसके हृदय में इनका आभास प्रतीत भी होवे परन्तु इस आभास के पीछे किसी के प्रति इनके हृदय में कुचिन्तन नहीं होता। ऐसे वेद पारगत मुनियों ने सच्ची निर्विकारता प्राप्त की है क्योंकि जगदाधिष्ठान आत्मा को जानने से उनमें प्रपञ्च उपशम होकर अद्वयता शेष रह गई है।

अपने आप में निःसंशय स्थिति प्राप्त कर अब उनका मन अपने प्रति किसी प्रकार के विकल्प नहीं उठाता। न उनको अपने आप में किसी प्रकार की अपूर्णता, अतृप्ति प्रतीत होती है। उनको सच्चा स्वावलम्बन प्राप्त हो गया है।

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥36॥
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥37॥

अपने स्वरूप को सर्वाधिष्ठान सर्वाधार रूप से अनुभव करके विद्वान् को अद्वैत में अपनी चित्तवृत्ति को जोडना चाहिए। मानसिक भावो को अन्दर ही अन्दर अपने अद्वय भाव मे संयोजन करने से मानसिक विकल्प शान्त हो जाते हैं और उनकी बाढ़ के रुक जाने पर निष्ठा का बाँध डावाडोल नही होता। जो भी भूतकालिक, वर्तमान कालिक या भविष्य कालिक संस्कार उद्भूत हो उनको अपने आप मे प्रशान्त करके उनके मायामयत्व का ध्यान करता रहे। भाँति-भाँति के लोगो के द्वारा किये गये अपने प्रति व्यवहार से अपनी निष्ठा को डाँवाडोल न होने देवे। नाना पन्थ सम्प्रदाय की बातो को सुनकर या उनके वैभव को देखकर उनके समान होने का प्रयत्न न करें।

अद्वैत भाव को प्राप्त होकर लोक व्यवहार मे विशेष रुचि न न दिखाता हुआ लोगो के सम्मुख ज्ञानी होने का स्वाँग न करते हुए विद्वान् अनजान-सा जगत मे विचरण करें। उपनिषद् मे कई स्थानो पर आता है, "पंडित होता हुआ भी बालवत् विचरण करे।" सांसारिक पदार्थ और प्राणी वर्ग का अवलोकन करता हुआ भी उनमें गुण अवगुण की कल्पना न करे उनमे राग द्वेषवान न होवे अपनापन और परायापन कल्पकर अपने आपको पक्ष विपक्ष मे लिपायमान न करें।

अपने आप मे बढप्पन की कल्पना करके किसी के द्वारा स्तुति कराने की इच्छा न करे, अपने आप मे तुच्छपन्न की कल्पना करके किसी की स्तुति कदापि न करे। दूसरो के द्वारा की गई स्तुति को अपने आप मे स्वीकार लेश मात्र न करे। अपने से अलग अपना कोई पूज्य है यह विचार कर नमस्कार न करे, और न अपने को पूज्य मानकर किसी से नमस्कार कराने की कामना करे। किसी के द्वारा की गई नमस्कार से न अपने आप मे अहंता अनुभव करे अपितु उस नमस्कार को नारायणाय कहकर परमात्मा के अर्पण करे।

लौकिक या पारलौकिक किसी कामना को लेकर अपने आप मे भोक्तृत्व का लेश न आने देवे और न इन कामनाओ की प्राप्ति के लिए अपने मे कर्त्तृत्व संस्थापन करके यज्ञादि का कर्मकाण्ड करे। स्वाहा, स्वधा देव और पितृ तर्पण मे प्रयुक्त होने वाले मन्त्र आदि के द्वारा प्रचारित कर्मकाण्ड का ध्यान भी न करे। वर्ण आश्रम जाति के अभिमान को अपने मे स्वीकार करके अन्य वर्ग की अपने से अलग स्वीकृति मानकर निन्दा स्तुति के द्वारा अपने अद्वय भाव का विनाश न करे।

शरीर के घर म प्रतीत होता हुआ भी सदा अचल आत्मा म निवास करे। लागो को सामान्य जीवन देखकर ऐसा लगे कि आपका चलगृह शरीर मे निवास है परन्तु आप आन्तरिक भाव से अपने आत्मा मे अपने अचल गृह मे निवास करें। प्रारब्धानुसार लीला करते अचल मे कल्पित चल तन के अचल भाव मे स्थिर रहकर तमाशा देखे।

तत्त्वमाध्यात्मिक दृष्ट्वा तत्त्व दृष्ट्वा तु बाह्यत ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्वादप्रच्युतो भवेत् ॥38॥

आध्यात्मिक रूप से अपने आपको ब्रह्म रूप अनुभव करके दृष्टि के पसारे मे भी अपने आपको हो अनुभव करे। प्राथमिक साधना मे आत्म श्रवण करता हुआ आत्माकार वृत्ति करे। काम क्रोधादि मानसिक विकारो से परास्त न होता हुआ इनके मिथ्यात्व का निश्चय करता हुआ अपने आपको तन मन प्राण ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियो के धर्मों से अछूता अनुभव करे। प्रकृति के आन्तरिक विकारो मे भी अपने आपको निर्विकार अचल ब्रह्म अनुभव करे।

वाहर पाञ्चभौतिक जगत् को भोग्य समझकर अज्ञान काल मे जो भोग वासना चाञ्चल्य का हेतु थी, उसके निवटारे के लिए भूत-भौतिक जगत् को मिथ्या समझे। अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान से इस प्रपञ्च का मिथ्यात्व निश्चय करे। प्रकृति प्रदत्त वाहर भीतर की कल्पना का मिथ्या जानकर, वाहर भीतर की मैं तू का भाव छोडकर एक तत्त्व का अनुभव करे। तत्त्वरूप हुआ हुआ तत्त्व मे आराम करे

और कभी भी आत्म तत्त्व से स्खलित न होवे । अपनी उपलब्धि सबसे महान उपलब्धि है ।

इति गौडपादीय कारिकायां वैतथ्य प्रकरणम्

तथा

विशुद्धानन्दीय भाषा व्याख्यायां वैतथ्य प्रकरणम्

समाप्तम्

अथ तृतीय अद्वैत प्रकरणम्

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरज सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृत. ॥1॥

उपासक वर्ग ने जितने धर्म कल्पकर ईश्वर को पाने की कल्पना की है वे सब धर्म कल्पनायें मायारोपित कल्पना ब्रह्म के आश्रित जात ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म के आश्रित बने ब्रह्म मे ही सिद्ध की जा सकती है अन्यथा अज ब्रह्म मे उनकी उपस्थिति तीन काल मे नही है। निर्विकार ब्रह्म तत्त्व सब धर्मों से अछूता है उसमे सभी धर्म माया का मिथ्या आरोप मात्र है । जिनको सुनकर ज्ञानवान को हँसी आती है ।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि सभी मतवाले उपासकों के भगवानो का लेखा-जोखा पढकर देखिये सबकी मान्यतानुसार भगवानो की भाषा वेशभूषा खानपान आदत सभी कुछ अलग-अलग हैं । हिन्दुओ का भगवान ब्राह्मण भक्त है सभी वेश-भूषा राजा-महाराजाओ जैसी है यज्ञोपवीत धारण करना अपने हिन्दू भक्तो की रखवाली करना उनका परम धर्म है । हिन्दू धर्म तो भगवान के अनेक रूपो की कल्पना का अजायब घर है ।

सभी धर्मवालो के भगवान अपने-अपने पैगम्बर पुत्र दूत अवतार आदि के मानने वाले को क्षमा कर देने वाले है परन्तु दूसरे धर्म वाले लोगो के लिए तो उन्होंने मानो नरको का निर्माण किया है । भगवान के साथ सभी मानने वालो ने इतना अन्याय किया है कि भगवान भी उनकी हठधर्मी को अपने मे विचार-विचार कर रोता होगा ।

ये समस्त कल्पनायें उत्पत्ति से पूर्व परमात्मा का एक पल्ला भी स्पर्श करने वाली नही होती । इन समस्त कल्पनाओ का आधार ससार है जो उत्पत्ति से पूर्व अनुपस्थित तथा वर्तमान मे भी मिथ्या प्रतीति मात्र है । इसलिए परमात्मा के विषय मे ये धारणाये अज्ञान-जन्य होने से कृपण कही गई है । अपने विषय मे और जगत के विषय मे जो विपरीत धारणाये वह भी मायाजन्य भगवान और कृपण है ।

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरज सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥1॥

उपासक वर्ग ने जितने धर्म कल्पकर ईश्वर को पाने की कल्पना की है वे सब धर्म कल्पनायें मायारोपित कल्पना ब्रह्म के आश्रित जात ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म के आश्रित बने ब्रह्म में ही सिद्ध की जा सकती है अन्यथा अज ब्रह्म मे उनकी उपस्थिति तीन काल मे नहीं है। निर्विकार ब्रह्म तत्त्व सब धर्मों से अछूता है उसमें सभी धर्म माया का मिथ्या आरोप मात्र है। जिनको सुनकर ज्ञानवान को हँसी आती है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि सभी मतवाले उपासकों के भगवानो का लेखा-जोखा पढकर देखिये सबकी मान्यतानुसार भगवानों की भाषा वेशभूषा खानपान आदत सभी कुछ अलग-अलग है। हिन्दुओं का भगवान ब्राह्मण भक्त है सभी वेश-भूषा राजा-महाराजाओं जैसी है यज्ञोपवीत धारण करना अपने हिन्दू भक्तों की रखवाली करना उनका परम धर्म है। हिन्दू धर्म तो भगवान के अनेक रूपो की कल्पना का अजायब घर है।

सभी धर्मवालो के भगवान अपने-अपने पैगम्बर पुत्र दूत अवतार आदि के मानने वाले को क्षमा कर देने वाले है परन्तु दूसरे धर्म वाले लोगो के लिए तो उन्होंने मानो नरकों का निर्माण किया है। भगवान के साथ सभी मानने वालो ने इतना अन्याय किया है कि भगवान भी उनकी हठधर्मी को अपने में विचार-विचार कर रोता होगा।

ये समस्त कल्पनाये उत्पत्ति से पूर्व परमात्मा का एक पल्ला भी स्पर्श करने वाली नही होती। इन समस्त कल्पनाओ का आधार ससार है जो उत्पत्ति से पूर्व अनुपस्थित तथा वर्तमान मे भी मिथ्या प्रतीति मात्र है। इसलिए परमात्मा के विषय मे ये धारणाये अज्ञान-जन्य होने से कृपण कही गई है। अपने विषय मे और जगत के विषय मे जो विपरीत धारणाये वह भी मायाजन्य भगवान और कृपण है।

अपना और परमात्मा का भेद, अपने मे अनेकत्व का भेद, जगत और जीव का भेद, जगत में परस्पर पदार्थों का भेद, जगत और जगदीश्वर का भेद। ये पांच प्रकार का भेद भ्रान्ति रूप है इसलिए कृपण है।

अपने में दीनता अर्पण करने वाला, अपने मे राग-द्वेष अर्पण करने वाला, अपने में व्यर्थ विवाद खडा करने वाला यह द्वैत भाव ही है। इसलिए इस कृपणता से उबारने के लिए *अद्वैत भाव का स्मरण* कराया जाता है। जो अपना सबका वास्तविक भाव है जिसमे किसी को मीनमेख नही। जिस अद्वैत भाव की स्वीकृति पर समस्त कृपणताओ से छुट्टी मिल जाती है। भगवान के विषय मे तथा अपने विषय मे अनेक मान्यताओ की कल्पना हुई है वही मूल रूप से इस कृपणता का कारण है। ये दीनता जन्म-जन्मान्तर की कल्पना के रूप मे प्राणी को कष्ट देती हुई आई है। यदि व्यक्ति अपने समष्टि अद्वैत रूप को समझ जाये तो जगत और जगतजन्य कृपणता कहां ?

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्।
यथा न जायते किञ्चिज्जायमान समन्तत ॥2॥

इस अज्ञानमयी कृपणता से उबारने के लिए द्वैत वासना को निवृत करना परमावश्यक है। विचारणीय वस्तु अद्वैत भाव, निर्विकार भाव, देशकाल वस्तु विहीन भाव, भूमा भाव है जिसे सृष्टि से पूर्व *स्वीकार किया गया है। क्योकि सर्वत्र लोक और शास्त्र मे जगत जन्म* स्थिति और प्रलय का वर्णन आता है इसलिए लोकमान्यतानुसार हम सभी की दृष्टि के सम्मुख जो अनेक भावमय ससार है वह जन्मा हुआ ससार ही है। समन्तत जायमान ससार क्या वस्तुत जन्मा भी है या यो ही हम इसके विषय में काल्पनिक मान्यता लिये बैठे है। यह प्रश्न शास्त्रानुसार उठाया गया है क्योकि शास्त्र मे इस प्रश्न को उठाने का तथा इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ अनुभव और तर्क भी इस विषय म प्रश्न उठाने मे साहस प्रदान करते है।

यदि शास्त्र तर्क अनुभव के द्वारा ससार का अजाति भाव सिद्ध हो जाये तो यह जगत धरातल की विषमता निवृत हो सकती है और

अद्वैत समता का साक्षात्कार हो सकता है समतायुत अद्वैतभाव समझ में आते ही जगत-जन्य सारी कृपणता दूर हो सकती है। ऊँचाई, नीचाई, मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश अपयश, स्वर्ग-नरक जन्म-मरण और बन्धन मुक्ति की दोला से अवकाश पाने का उपाय एक मात्र समता-की उपलब्धि है। यह समता विषमता की असिद्धि पर स्वयं शेष रह जायेगी। इसलिए जायमान संसार की अजायमानता आत्मता का विचार करते है।

आत्मा ह्याकाशवज्जीवै घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥3॥

जीव के जन्म विषय में सर्वप्रथम विचार किया जाता है। क्या जीव का जन्म होता है ? या जीव अजन्मा है ? जीव अल्पज्ञ है या और कुछ ? जीव विभु है या अणु ? जीव परमात्मा से भिन्न है या अभिन्न ? जीव शरीर के साथ जन्मता है मरता है या शरीर से पूर्व और उपरान्त भी इसकी सत्ता है ? जीव ईश्वर का अंश है या परि-पूर्ण ईश्वर ? जीव क्षणिक है या स्थाई ? जीव शरीर परिमाणमात्र है या इससे बड़ा या छोटा ? जीव कुछ है भी या नहीं ? ऐसे अनेक विषय जीव के विचित्रता विविधता से संयुक्त प्रश्नो के रूपो में उप-स्थित किये गये है। आओ थोड़ा इन पर विचार करे।

आत्मा से तात्पर्य जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही है परन्तु यहाँ आत्मा से तात्पर्य शुद्ध चेतन ब्रह्म परमात्मा है आकाश के समान वेदान्त शास्त्र ने स्वीकार किया है तथा जीवात्मा को घटाकाश के समान स्वीकार किया है। घट के समान सघात माना गया है, इस प्रकार इन तीन रूपो मे व्यावहारिक प्रपञ्च का विवेचन है। जगत के मिथ्यात्व पर विचार तो वैतथ्य प्रकरण में पूर्णरूप से हो चुका है, यहाँ इस अद्वैत प्रकरण में जीव तत्त्व पर विचार करते हुए जीव को घटाकाश की भाँति परमात्म तत्व जिसकी उपमा महाकाश से दी गई है के साथ एकरूपता स्वतः सिद्ध हो जाती है। घट ने घटाकाश को नासमझो की दृष्टि मे महाकाश से अलग किया है परन्तु बुद्धिमानों की दृष्टि में महाकाश और घटाकाश एक ही है।

घट का जन्म यद्यपि युक्ति से सिद्ध नही होता केवल एक कल्पना

है चलो उसका जन्म मान भी लिया जाये तो भी इसके द्वारा घटाकाश का जन्म तो किसी को स्वीकार ही हो नहीं सकता। इसी प्रकार अविद्या से लेकर स्थूल शरीर तक स्वप्नवत भासमान प्रपञ्च का जन्म व्यवहार में भी सिद्ध नहीं होता चलो फिर भी दुर्जनतोष न्याय से मान भी लिया जाये तो भी जीवात्मा का जन्म तो अत्यन्त असम्भव है। क्ने औपाधिक सीमाओं से अविच्छिन्न सा मानकर उसका नाम जीवात्मा रख दिया गया है परन्तु है तो वह परमात्मा ही। उपर्युक्त समस्त प्रश्नों का उत्तर जीवात्मा की परमात्मता ही है।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष में कथित जीवात्मा के विषय में जितनी मान्यता हैं समस्त कृपणता और अज्ञानता से सयुक्त हैं। उपर्युक्त मतों के अनुसार स्वभाव से बँधा अल्पज्ञ जीव जो परमात्मा से अलग और अणु माना गया है उसकी मुक्ति कभी सम्भव नहीं। जो स्वभाव से बधा है उसके स्वभाव को विपरीत किस प्रकार किया जा सकता है। जो कल्पनायें सघात के धर्म मानी गई है उसका सम्बन्ध तीन काल मे भी जीवात्मा के साथ नहीं। जीवात्मा तो जीवात्मा परमात्मा के विषय मे भी लौकिक सांकल्पिक कल्पनायें जोडकर भाव राज्य का नाम लेकर अभाव को भाव के साथ जोड दिया गया है।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥4॥

साधारण बुद्धि वालो को साधारण युक्ति से समझाते हुए कहते है, घटादि उपाधियों के प्रलीन होते ही अर्थात् घटादि के विनाश होते ही घटाकाश महाकाश मे लय हो जाता है। उसी प्रकार सघात रूप उपाधि के लय होते ही जीव परमात्मा मे लय हो जाता है।

उपर्युक्त कथन ज्ञानवानो को तो हास्यास्पद मात्र है। ये विचार कीजिये घटाकाश महाकाश से मिलने के लिए कितने दिन प्रतीक्षा करे। घट टूटेगा तब घटाकाश महाकाश मे लय होगा। घट का क्या साहस है जो घटाकाश को महाकाश से अलग कर सके क्योकि विचारा घट स्वय आकाश म कल्पना मात्र है तथा घट के कण-कण मे आकाश विराजमान है फिर उसने घटाकाश को महाकाश से अलग किस प्रकार कर दिया।

आप कल्पित सीमाओं से बँटवारा करके कल्पित नाम रखकर कुछ कहते फिरें, ज्ञानवानो को तन, मन, प्राण इन्द्रिय ससार सभी के भासते रहने पर भी अपनी ब्रह्मता मे कोई अन्तर नही। भले ससार की उत्पत्ति लोग कहते रहे भले कोई जगत की स्थिति का अनुमान लगाता फिरे भले प्रलय के घन गर्जन से ब्रह्माण्ड फट जाये इतने पर भी ज्ञानवान को अपनी सच्चिदानन्दता मे लेश मात्र अविश्वास नही। तन अपनी करतूत दिखाता रहे, इन्द्रिय अपनी असमर्थता या सामर्थ्य जचाती रहे, भले ही प्राण पलायन करने को तत्पर हों चाहे मन कितना ही विकल्प जँचाती रहे अपनी ब्रह्मता मे लेश मात्र भी संशय नही।

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥5॥

कदाचित् कोई विचार करे यदि आप सच्चिदानन्द ब्रह्म है और सभी मे आप विराजमान है तो सभी के दु ख सुखो, गुण अवगुणो का अनुभव आप को क्यो नही होगा ?

इस शका कासमाधान करते हुए कहते है, जिस प्रकार एक घटाकाश मे धूल-धूआ होता है तो और घटाकाशो मे उसकी प्रतीति नही होती इसी प्रकार एक जीव के सुख-दु ख, राग-द्वेष, भूख-प्यास आदि की प्रतीति दूसरे जीव मे नही होती। विचार करने पर तो बात इससे भी आगे पहुँच जाती है। यो उपर्युक्त शका का समाधान तो ठीक-ठीक हो ही गया है। इससे भी आगे कहाँ तक पहुँच सकती है बात ?

तो ध्यान लगाकर सुनिये जिस घटाकाश मे धूम-धूल छाई हुई है वह धूमधूल उस घटाकाश को भी स्पर्श नही करती। महाकाश मे आँधी-तूफान, अँधेरा-उजाला, सर्दी-गर्मी वर्षा क्या कुछ नही आता परन्तु मेघादि कभी महाकाश को स्पर्श करते है ? इसी प्रकार घटाकाश भी कही किसी घट मे धूल धूम को स्पर्श नही करता भले भासता रहे बस जीवात्मा कहे जाने वाले हम परमात्मा भी कही किसी तन मे भी प्रातीतिक औपाधिक धर्मों को स्पर्श नही करते।

रूप-कार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णय ॥6॥

घडा, ढोलक, तबला, मृदङ्ग, नक्कारा आदि अलग-अलग रूप हैं इनके कार्य भी अलग-अलग हैं और नाम भी इनके यथा क्रिया रख दिये गये हैं परन्तु आकाश फिर भी इन सब में एक है। इसी प्रकार समस्त प्राणधारियों के रूप कार्य और नाम अलग-अलग हैं परन्तु फिर भी आत्मा सबमें एक है उसी को उपाधि मे आवृत करके अनेक जीवात्माओं के रूप मे मान लिया गया है। यह भेद अपरमार्थ रूप है परमार्थ से नहीं।

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मन. सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥7॥

घटाकाश, महाकाश का न तो विकार है और न अवयव है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा का न विकार है न अवयव है स्वय वह ही है। गोस्वामी तुलसीदास जी अपनी रामायण मे तथा विनय-पत्रिका मे अनेक स्थानो पर वेदान्त का प्रतिपादन करते है क्योंकि इस सिद्धान्त की अकाट्यता उनको प्रभावित करती है परन्तु वैष्णव सस्कारो के कारण कहीं-कही विरोध भी कर जाते है—

"ईश्वर अश जीव अविनाशी" ये चौपाई जीव को ईश्वर का अश बतलाती है।

जो सबके रहे ज्ञान एकरस ।
ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस ।

यहाँ दोनो के भेद पर अत्यन्त बल दिया है और "जीव अनेक एक भगवन्ता" "मायावश जड जीव ये कहहु ईश समान" आदि अनेक स्थानो पर वे भेदवादी मत प्रगट करते है।

यद्यपि इन चौपाइयो को व्यवहार मूलक मान लिया जाये तो प्रातिभासिक भेद स्वीकार भी किया जा सकता है परन्तु वैष्णव सम्प्रदायानुसार गोस्वामी जी को भेदवादी स्वीकार किया गया है। रामायण का प्रचलन इतना है कि वेदान्त सिद्धान्त प्रधान व्यक्ति रामायण से अद्वैत वेदान्त सिद्ध करते है और पूर्ण रामायण के पात्रो

का आध्यात्मिक अर्थ निकालते है। कदाचित् ये कल्पना तुलसीदास जी के मन मे भी न हो।

चैतन्य तथा वल्लभ मतानुसार वेदान्त को खूब खरी-खोटी सुनाना परम सिद्धान्त समझा जाता है। प्रकाशात्म यति के प्रसगो को इतना उछाला गया है मानो अद्वैतवाद की प्रलय कर दी गई है। भगवान शकराचार्य का श्लोक पूरे साहित्य मे से छाँटकर उनको प्रमाण देने के लिए रह गया है, "प्रभो समुद्र की लहर तो होती है लहर का समुद्र नही होता" यह पक्ति भगवान शकराचार्य ने किसी स्तोत्र मे कही कही है या हो सकता है बाद के किसी शकराचार्यकृत यह स्तोत्र हो। चलो भक्तिभाव वश उन्होने कह भी दिया हो तो उनका समस्त साहित्य जो अद्वैत वेदान्त प्रतिपादक है उसको निरस्त नही किया जा सकता।

यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त विक्षेप निवृत्त्यर्थ श्रद्धोत्पादनार्थ परोक्ष ज्ञान का भाव प्रदर्शनपक्षार्थ आत्मानुसन्धान रूप मे भक्ति को स्वीकार करता है परन्तु द्वैत परक इस भाव को अन्तिम सत्य स्वीकार नही करता। ये बीच के सोपान मात्र है।

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ॥8॥

जिस प्रकार नासमझ लोगो की दृष्टि मे प्रात से साय तक कई वार आकाश मलिन प्रतीत होता है परन्तु आकाश कभी मलिन नही होता इसी प्रकार नासमझ लोगो की दृष्टि मे आत्मा भी मलिन प्रतीत होता है किन्तु मलिन होता नही।

अपनी आत्मा मे मलिनता मानने वालो ये तो बताओ यदि आत्मा मलिन हो गया तो इस मलिनता को देखता कौन है? जानता कौन है? जिस नेत्र मे मलिनता, मैल, धूल आ जाती है उस नेत्र से ही कुछ दिखाई नही देता फिर नेत्र का नेत्र आत्मा मे मलिनता भला किस प्रकार आ सकती है। आत्मा अत्यन्त शुद्ध अत्यन्त पावन है उसको अपावन करने पर भी अपावन नही किया जा सकता। मानसिक समस्त शुद्धियो का प्रमाणपत्र आत्मा से ही प्राप्त होता है। गंगा मे

भले ही मलिनता अपावनता मान ली जाये परन्तु आत्मा मे अपावनता का क्या सम्बन्ध है।

आपको निर्भय निस्सशय होकर आत्मा मे विना कुछ किये कराये ही पावनता स्वीकार कर लेनी चाहिए। किसी भी प्रकार का पाप-पुण्य आत्मा को स्वप्न मे भी स्पर्श नही करता। आपको किसका डर है आप तो निर्भय राम है अद्वैत है केवल है। सब नाम रूप के अधि-ष्ठान हैं आपकी समस्त चिन्तायें आप मे आने से पूर्व-पूर्व जलकर खाक भी नही रही है।

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितो सर्वशरीरेषु चाकाशेनाविलक्षण ॥9॥

मरना जीना आना जाना समस्त विकार शरीरों में ही स्थित है आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नही जिस प्रकार समस्त भूत भौतिक पदार्थों से आकाश का कोई सम्बन्ध नही।

युक्ति और शास्त्र से तो यह प्रमाणित होता है कि जन्म मरण से अपना लेशमात्र भी सम्बन्ध नही और आने जाने आदि से भी अपना सम्बन्ध लेश मात्र नही परन्तु मानसिक धारणायें इस ज्ञान से विल्कुल विपरीत हैं। मन मानकर ही नही देता आत्मा और शरीर दोनो अलग-अलग वस्तु है इसका क्या कारण है ?

इसका कारण जन्मजन्मान्तर की मानी हुई धारणाओ की दृढता है तथा शरीर और मन का तादात्म्य है तथा मन और आत्मा का तादात्म्याध्यास है। मन के माध्यम से आत्मा तथा शरीर का अन्यो-न्याध्यास समस्त भय भीति का कारण है। निरन्तर आत्माभ्यास से यह अध्यास क्षीण होता जाता है और अपनी असगता मे विश्वास बढता जाता है। यदि मनोयोगपूर्वक स्वाध्याय और सत्सग का अभ्यास किया जाता रहे तो आत्मज्ञान करामलकवत हो जाता है कोई अपने प्रति सशय नही रह जाता।

आत्मज्ञान धीरे-धीरे समस्त मानसिक अविश्वासो पर विजय दिला देता है और जीवन मुक्ति सुख की उपलब्धि होती है। आत्म-ज्ञान सदृश ससार मे कुछ अन्य वस्तु पवित्र नही।

संधाताः स्वप्नवत्सर्वं आत्ममायाविसर्जिता ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ।।10।।

जिस प्रकार चित्रपट के चित्र न तो घोर तिमिर में दृष्टि प्रत्यक्ष होते है और न परम प्रकाश में चक्षुगत होते है, उसी प्रकार समस्त संघात न तो ज्ञान स्वरूप आत्मा मे विराजते है। और न महान तिमिर स्वरूप आवरण रूप माया मात्र में ही विभासित होते है। "आत्ममाया विर्सजिता:" आत्मा में माया का आरोप कर लेने पर, प्रकाशयुत तम या तमयुत प्रकाश में ही इनकी प्रतीति सम्भव है। इतना समझना और आवश्यक है ये संघात बनते बनाते कुछ नही, अनादि कालीन मायास्थ संस्कारो से इनकी प्रतीति होती है तथा स्वप्न संघात की प्रतीति संस्कार और अविद्या की मिली-जुली कारीगरी है, उसी प्रकार जागृत प्रपञ्च भी माया या अविद्या तथा संस्कारो की करतूत है।

कोई भी हठ कर सकता है स्वप्न के संस्कार तो जागृत से लिये गये है। जो सत्य है उसमे तो स्वप्न निर्माण होता है परन्तु जागृत के निर्माणार्थ संस्कार कहाँ से मिल गये है ?

जागृत के संस्कार जागृत से लिये गये है, वर्तमान निर्माण मे पूर्व के अर्थात् भूतकालीन संस्कार हेतु है जो जागृत कालीन ही है। वर्तमान सृष्टि की प्रतीति मे पूर्व सृष्टि के संस्कार हेतु है और यह अनादि परम्परा चलती आ रही है। रही सत्य संस्कारो की बात अर्थात् सत्य वस्तु के संस्कारों की बात तो नियम नही मिथ्या वस्तु के संस्कार भी वस्तु प्रतीति मे हेतु हो सकते है।

इस प्रकार ये संघात सबके सब मायिक मिथ्या प्रतीति मात्र है। तो इनमें परस्पर उत्तम, मध्यम, कनिष्ट या सम आदि की सिद्धि का प्रश्न ही नही बनता। जो मायिक प्रपञ्च का गणित मात्र ही फैलाने मे लगा हुआ है, इन्ही सघातों की जन्मपत्री मात्र बनाने में संलग्न है वह आध्यात्मिक जगत में मूढों की गिनती मे आता है। संसार के सत्यत्त्व सिद्ध करने में ही यदि समस्त तर्क शक्ति का देवाला निकाल दिया गया तो कौनसी विशेष बात हो गई यह बात तो आगोपाल गान को ज्ञात है—

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीव ख यथा सम्प्रकाशित ॥11॥

तैत्तरीयोपनिषद् मे महर्षि भृगु ने अपने पिता वरुण से जाकर आत्म ज्ञानके विषयमे पूछा तो उन्होंने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषो का बाध करके शेष अनिर्वचनीय इनके धारक ज्ञाता तत्त्व को आत्मा बताया । महर्षि भृगु ने उपदेश के अनुसार अपने स्वरूप को पाँचो कोषो की कल्पना का आधार अनुभव किया । जिस प्रकार तम प्रकाश धूम, धूल आदि को बाँधकर शुद्ध गगन का बोध होता है इसी प्रकार 'त्व ब्रह्म' चिदाकाश स्वरूप आत्मा को उन्होने अपने आप मे जाना ।

नासमझी के कारण सघात के धर्मो को अपना धर्म मानकर सभी अज्ञानी अज्ञान के भार तले दबे-दबे मिथ्या कल्पनाओ मे फँसे हुए मिथ्या सम्बन्धो के चक्र मे कट-कटकर टुकडे-टुकडे हो रहे हैं ।

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने पर ब्रह्म प्रकाशितम् ।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाश प्रकाशित ॥12॥

बृहदारण्यक उपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयि को आत्म ज्ञान प्रदान करते हुए कहते है कि "मैत्रेयि आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियो भवन्ति" आत्मा आनन्द स्वरूप है सबसे अधिक प्रियता का विषय होने के कारण । सब कुछ आत्मा के लिये प्रिय हा हैं। आगे इसी प्रसग मे मधु ब्राह्मण आता है उसमे दो-दो के युग्म लेकर ब्रह्म तत्त्व का प्रकाशन किया गया है। जिस प्रकार पृथ्वी के उदर मे अर्थात् अन्दर आकाश प्रकाशित है।

अपने आपको हृदयाकाश मे अनुभव करके महाकाश रूप मे अनुभव करे । सबके बाहर भीतर निरन्तर एक रस अपने आपको चिदाकाश रूप मे समझे । अपने आप को शरीर की मैं मान के साथ मानकर बन्धन की कल्पना करना, परमात्मा से अलगाव समझते रहना, अन्य प्राणियो से अपना अलगाव समझते रहना, जड-जगत की कल्पना करके अलगाव समझते रहना कि मैं अलग हूँ जगत अलग है यह सब अज्ञान का परिपक्व फल है

अपने अपको मनगा ा मे मानते रहना मन के धर्म काम-क्रोध लोभ मोहादि से सश्लिष्ट मानना, प्रत्येक क्षण अपने आप मे मन की कल्पनाओं से दीनता, हीनता, अपूर्णता मानते रहना सचमुच अविद्या का फल है।

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्व निद्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ।।13।।

समस्त उपनिषदों मे जीव और आत्मा के एकत्व की प्रशंसा की है इसलिए एकतत्व ही अत्यन्त सत्य है। प्रशंसा मे कहा है, "तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत" आत्मा के एकत्वावलोकन मे शोक मोह कहाँ। जो अपने आपको जानता है सर्वरूप हो जाता है। आत्मा के अनेकत्व देखने वाले की निन्दा करते हुए कहते हैं—'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" वह मृत्यु से बराबर मृत्यु को प्राप्त होता रहता है जो अनेकपना सा देखता है। "द्वितीया द्वै भय भवति" द्वैत की कल्पना से भय की प्रतीति होती है।

नासमझ मन कब तक पीपल के पत्ते की भाति भय से कांपता रहेगा और कब तक अपने आप से उसे अलग समझकर शत्रुता करता रहेगा। मानसिक दासतावश अपने आप मे तन की मर्त्यता को लेकर मृत्यु से डरता रहेगा कब तक! कितने दिवस अपने आपको तन मन से अलग असग आत्मा सुनते सुनाते हो गए परन्तु अब तक तन मन की धूल तेरे अन्दर से कहाँ झड पाई है। ज्ञानेन्द्रियों के अनुभवानुसार संसार की आपात रमणीयता कब तक तृष्णा की अग्नि तेरे हृदय मे जलती रहेगी। ससार मे उपस्थित रहने की इच्छा कब तक तुझे अपने आप मे अनुपस्थित रखेगी ये तो बता!

जीवात्मनोः पृथक्त्व यत्प्रागुत्पत्ते. प्रकीर्तितम् ।
भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्व हि न युज्यते ।।14।।

उत्पत्ति से पूर्व जीव और आत्मा का पृथकत्व जो विवेचन किया गया है, उस विवेचन का तात्पर्य मुख्य वृत्ति से जीव और आत्मा का भेद प्रतिपादन तात्पर्य नही अपितु ऐसा अज्ञानमयी कल्पना से समझा जायेगा इस भविष्यद् कल्पना को लेकर गौणीवृत्ति से उसका विवेचन समझना चाहिए।

आपका कथन ही सत्य है, हम इस बात को किस प्रकार स्वीकार करे, कदाचित् मुख्यावृत्ति मे ही कहा गया हो ?

आप स्वय विचार कर शास्त्र का अर्थ समझने का प्रयत्न करे अनुभव युक्ति शास्त्र सभी आत्मा को एक निर्विकार तत्त्व स्वीकार करते है। निर्विकार तत्त्व न तो स्वय किसी से उत्पन्न होता है और न कुछ उससे उत्पन्न होता है। आत्मा को सत्य माना गया है, सत्य न तो स्वय किसी से उत्पन्न होता है और न सत्य से कुछ उत्पन्न होता है। आत्मा को व्यापक माना गया है, व्यापक स्वयं किसी व्याप्य से उत्पन्न होता है यह सम्भव नही और व्यापक मे व्याप्य की सत्ता उत्पन्न होती है यह भी किसी को मान्य नही। आत्मा सच्चिदानन्द घन है, इसलिए घन से न तो निकलने का अवसर है और न घन मे किसी का प्रवेश सम्भव है। इसलिए आत्मा मे जगत की कारणता आरोपित तो हो सकती है किन्तु वास्तविक नही।

जीव और जगत का जन्म भी किसी प्रकार सम्भव नही। यदि ये सत्य है तो भी सत्य का जन्म होता नही और यदि असत्य माना जाये तो भी असत्य है ही नही फिर उसका जन्म कैसा ?

उपर्युक्त युक्तियो तथा अनेक वेद प्रमाणो के द्वारा यह सिद्ध होता है आत्मा सदा अद्वैत है इसमे जगत की कारणता का आरोप तथा स्वय जगत तक का आरोप मायामात्र मिथ्या प्रतीति है इसलिये जीव और आत्मा का भेद वर्णन गौणी भविष्यद्वृत्ति से माना गया है।

> मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
> उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥15॥

मिट्टी, लोहा, अग्नि की चिनगारियाँ आदि दृष्टान्तो द्वारा सृष्टि का उत्पादन अनेकानेक प्रकार से किया गया है इसका तात्पर्य क्या है ? यदि सृष्टि उत्पन्न ही नही हुई तो इसका वर्णन उत्पत्यादि का इतना बल देकर क्यो किया गया है ?

अनेक प्रकार का वर्णन ही वस्तुत सिद्ध करता है कि जगत का जन्म तीन काल मे भी नही हुआ। वर्णन तो आत्म ज्ञान तक पहुँचाने के लिए है एक आरोपमात्र है। आरोप आरोपित की सत्यता सिद्धि

ने लिए नही होता अपितु किसी वास्तविकता को समझने के लिए होता है। बाद म आरोपित का अपवाद कर दिया जाता है।

जिस प्रकार उपनिषदो मे प्राण इन्द्रिय आदि के परस्पर के झगडो का वर्णन आता है तो वह ऐतिहासिक कलह का विवेचन नही अपितु इन कल्पनाओ का आरोप करके आत्मज्ञान कराना ही उपनिषदा का लक्ष्य है अन्यथा कलह से विवेचन होवे तो उपनिषदो की क्या उपयोगिता। इसी प्रकार उपनिषदो का भदवाद केवल अभेद समझने के लिए एक उपायमात्र है अन्यथा अद्वैत आत्मा सदा वर्तमान है।

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्ट दृष्टय ।
उपासनोपविष्टेय तदर्थमनुकम्पया ॥16॥

परमार्थ पथ के पथिक तीन प्रकार के है—हीन, मध्यम तथा उत्कृष्ट। इनमे हीन अधिकारी कर्मपरक श्रद्धा वाले होते है तथा मध्यम अधिकारी उपासना के प्रति श्रद्धावान होते है और उत्कृष्ट अधिकारी मुमुक्षुवृन्द आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए लालायित होते ह। इन सभी की उन्नति के लिए श्रुति भगवती ससार का आरोप निर्विकार ब्रह्म मे करती है। इस ससार न प्रति अत्यन्त आसक्तिवान लाग केवल कर्म की प्रधानता मानकर परमात्मा की आवश्यकता समझते ही नही और कहते है यदि अपना कर्म ही सब कुछ है तो वह स्वय अपने आप हमारे लिए फलित हो उठगा इसमे ईश्वर की लेश मात्र भी माध्यमिकता की आवश्यकता नही।

उन लागो के हृदय म परमात्मा की अस्तित्व निष्ठा जम जाये इसलिए परमात्मा की महिमा प्रकाशनार्थ परमात्मा से जगत का प्रगटन दिखाया गया है। जिससे परमात्मा मे विश्वास होकर साधारण समाज कुकर्म से बचा रहे, सामाजिक व्यवस्थायें बनी रह और चरित्र उन्नत हो सके।

परमात्मा मे विश्वासवान व्यक्ति आगे परमात्मा से मिलना चाहता है इसके लिए मार्ग प्रशस्त करने के लिए ईश्वर की महिमा प्रकाशन करना श्रुति का तात्पर्य है ससार के वर्णन करन म। प्रगटन, स्थिति तथा लय सभी भगवान की महिमा के प्रकाशक है जिसम परमात्मा मे प्रेम बढता है।

स्वसिद्धान्त व्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥17॥

द्वैतवादी अपनी-अपनी सिद्धान्त व्यवस्था मे इतने दृढ है कि इसकी पुष्टि के लिए एक दूसरे से झगडते रहते हैं तथा परस्पर एक दूसरे का खून पीने के लिये तैयार रहते हैं परन्तु परमार्थ तत्व वेत्ता उन किसी से तनिक भी विरोध नही करते। अद्वैत आत्म निष्ठावान किसी मतवादी से विरोध क्यो नहीं करते ? इसका कारणमाया की विचित्रता विविधता अनिर्वचनीयता है। अनन्त, असीम, अखण्ड, अव्यक्त, अधिष्ठान स्वरूप, आधार रूप और असंग आत्मा मे जो जो भी कल्पना कर ली जाती है माया से वही-वही सत्य भासने लगती है।

भले नासमझ लोग परस्पर अपने-अपने सिद्धान्त के लिये झगड़ते रहे परन्तु हम लोग सभी सिद्धान्त मान्यताओं को कल्पित मानते है और यह स्वीकार करते है सभी मान्यतायें अपने-अपने दृष्टिकोण को लेकर सत्य है अर्थात् व्यावहारिक सत्य है, काल्पनिक मनोराज्य मे सत्य है पारमार्थिक सत्य तो मान्यताओ को मानने वाला आत्मा है *जो सभी मान्यताओ से अछूता है।*

जिस प्रकार एक गज कपडे को हाथ से मापा जाये तो दो है, बालिस्त से मांपा जाये तो चार है, अंगुलियो से मापा जाये तो अडतालीस है, इचो से मांपा जाये तो छत्तीस है और फुटो से मांपा जाये तीन है तथा गज से मांपने पर एक है कपडा तो कपडा है पैमाना अलग-अलग होने से संख्या भी अलग-अलग आयेंगी इनमे से किसको मिथ्या कहा जाये।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते ॥18॥

द्वैत के प्रति हमारा लेशमात्र भी द्वेष नही क्योकि हम आधार ही आधेय से द्वेष करेंगे तो बिचारा टिकेगा कहां ? इतना अवश्य है हम अद्वैत के आश्रित, हमारे द्वारा प्रकाश्य द्वैत हमारे स्वरूप मे प्रविष्ट नही है। हम मे इसकी प्रवेशता सम्भव ही नही क्योकि कल्पित का अधिष्ठान मे प्रवेश तीन काल मे नही। व्यावहारिक द्वैत अद्वैत के

अश्रित कल्पित काम चलाऊ है। जब तक अद्वैत आत्मा का बोध नही होता तब तक व्यावहारिक सत्ता या व्यावहारिक अस्तित्व तो माना जाता है। बोधोपरान्त भी ज्ञानवान प्रारब्ध भोग तक इस ससार की सत्ता को बाधितानुवृत्ति से अवलोकन करते हुए भी इसमे वर्तते तो है ही।

परन्तु अनात्म वेत्ता परमात्मा की सत्ता और जगत की सत्ता दोनो का एक कोटि मे मानकर दोनो को दो सत्ता मानकर द्वैत से व्यवहार मे तो उतारते ही नही व्यवहार मे भी इसे सत्य मानते है। सदा अपने आपको और जगत को अपने परमात्मा से अलग मानते है, और परमार्थ मे भी इस द्वैत को सत्य मानकर सदा अपने आपको और जगत को अपने परमात्मा मे अलग मानते हैं। एक ओर तो वे कहते है जगत, जीव, ईश्वर तीना पारमार्थिक त्रैकालिक सत्य सत्ताये हैं दूसरी ओर कहते हैं जगत और जीव का जन्म होता है। सत्य कहकर उनका जन्म मानकर वे वदतो व्याघात दोष के भागीदार होते हैं। अपना इन द्वैत वादिया से कोई विरोध नही जो अजन्मा मे जन्म की कल्पना करते है।

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाज कथञ्चन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यतामभृत व्रजेत् ॥19॥

आत्मा अखण्ड एकरस निर्विकार सच्चिदानन्द स्वरूप है, उसम अनेकता की प्रतीति माया के कारण ही है अन्यथा आत्मा मे स्वरूप से जीवत्व या जगतत्व की उत्पत्ति या उपस्थिति किस प्रकार सम्भव है। अज आत्मा न ता स्वय जन्म लेता है और न उससे किसी का जन्म ही सम्भव है। आत्मा मे यदि उसके कल्पित खण्डो को सत्य मान लिया जाये तो अमृत मृतत्त्व को प्राप्त हा जाये जो किसी प्रकार सम्भव नही।

वस्तुत कारण कार्य का सिद्धान्त ही अत्यन्त अपूर्ण है जिसके ऊपर ससार की समस्त विचारधारा खडी है आगे चलकर इसे सिद्धान्त की अपूर्णता दिखाई जायेगी। कारण कार्य की परम्परा माया की ही एक ऐसी करतूत है जो व्यक्ति को अपने निर्विकार भाव तक नही

पहुँचने देती और व्यक्ति इस सांकल में वधा-वधा यही सोचता रहता है कि मैं ऐसा करूँगा तो वैसा हो जायेगा वैसा करूँगा तो ऐसा हो जायेगा।

चिन्ता जनक भूत भविष्य मे विराजमान कारण कार्य का विचार छोडकर वर्तमान मे एकरस कारण कार्य से अछूते तत्त्व अपने आत्मा का निष्कलंक अनुभव करना चाहिए अपने आपको किसी से जन्मा हुआ मानना या अपने आपसे किसी को जन्मा हुआ मानना समस्त ससार के सम्बन्ध की नीव है।

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥20॥

वादी वृन्द सृष्टि का वर्णन करते हुए जब जीव और जगत के जन्म की चर्चा करते है। एक ओर कहते है जीव अजन्मा है दूसरी ओर उसका जन्म मानकर असम्भव को वह सम्भव करने का प्रयत्न करते है। वस्तुत जो अजात प्रकृति वाला जीव है उसका जन्म होकर वह मर्त्यता को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है?

सचमुच बडी विचित्र बात है अनहुये जीव और अनहुये जगत का जन्म होता है। यह माया की विचित्रता ही तो है जो निर्विकार को सविकारता से सयुक्त करके उसमे इस दृश्य को खडा करके यह अनहुआ खेल दिखा रही है। ये तो ज्ञानियो को निश्चिय ही है, "इस खेल से आत्मा मे कोई अन्तर नही आता आत्मा सदा निर्विकार है भले माया ससार की सृष्टि स्थिति और प्रलय चाहे कुछ भी होता रहे स्वरूप मे कोई हानि नही होगी।"

आकाश मे नीलता भले ही प्रतीत होती रहे परन्तु समझदार कोई भी इस नीलता से नही डरता क्योकि प्रातीतिक वस्तु से किसी की कोई हानि लेश मात्र नही होती। इस माया से न तो ससार की सत्यता सस्थापित की जा सकती है और न जीव की परमात्मता छीनी जाती है फिर इसके भासते रहन से आत्मा मे क्या अन्तर है।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथा भावो न कथञ्चिद्भविष्यति ॥21॥

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चल ॥22॥

जो अमृत है वह कभी भी मर्त्य भाव को प्राप्त नही हो सकता और जो मर्त्य है वह कभी भी अमृत भाव को नही प्राप्त हो सकता। जो जिसकी प्रकृति है उसका अन्यथाभाव कभी हो ही नही सकता।

स्वभाव से जो अमृत है यदि उसको ही किसी के द्वारा बनाया हुआ समझ लिया जाए तो वह निश्चय ही मर्त्यता को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् जन्म के साथ मृत्यु अवश्यम्भावी है। साथ ही जो बनाने वाले साधनो के द्वारा बनाया जाता है अर्थात् उसकी साधन सामग्री विकारी है तो कार्य रूप मे आकर वह स्थायी भाव और निश्चलता को किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा।

कारण मे यदि विकार मान लिया जाये और कारणता का परित्याग करके कार्यता मे इसका परिणाम मान लिया जाये तो इसमे कारणता के साथ साथ कार्यता अवश्य माननी पडेगी। इस प्रकार प्रत्येक कारण, कार्य भी माना जायेगा और इस प्रक्रियानुसार कारण कार्य का सिद्धान्त निश्चित न हो सकेगा साथ ही श्रुति का भी विरोध होगा जिसमे कारण को निर्विकार माना गया है।

कारण मे कार्यता मानना और कार्य मे कारणता मानना इस सिद्धान्त को मान लेने पर क्षणिक वाद अपने आप आ टपकेगा जिसमे एक क्षण जो वर्तमान है भूत क्षण का कार्य तथा भविष्य क्षण का कारण माना जाता है।

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुति ।
निश्चित युक्तियुक्त च यत्तद्भवति नेतरत् ॥23॥

श्रुति भगवती ने सृष्टि का वर्णन परमार्थत किया है अथवा सृष्टि आरोपित प्रतीति मात्र है, इस विषय मे दोनो प्रकार के वचन मिलते है। इसलिए सृष्टि के सत्यत्व असत्यत्व के विषय को लेकर यदि श्रुति का तात्पर्य सृष्टि के सत्यत्व मे ले लिया जाये और सृष्टि के मिथ्यत्व वाली श्रुतियो को गौण समझ लिया जाये तो क्या दोष है ?

सृष्टि के सत्यत्व मे श्रुति का तात्पर्य मानने से जीव का मोक्ष

कभी न हो सकेगा क्योंकि न तो संसार (जो जीव की उपाधि है।) उसका न कभी निवृत्तिकरण होगा और न कभी मुक्ति होगी। परमात्मा अपने स्वरूप का ज्ञान कराकर संसार का मिथ्यात्व निश्चय कराकर जीव को जीवत्व से छुट्टी दिलाना ही श्रुति का तात्पर्यार्थ है जो संसार के आवरण भंग हुए बिना कभी सम्भव नहीं।

कर्तृत्व को सत्य मानकर कर्म की ओर प्रेरित करके संसार की उपलब्धि ही श्रुति का तात्पर्य मान लिया जाए उसमें अलौकिकता अपूर्वता क्या हुई, यह ज्ञान तो सांसारिक शास्त्रों से भी हो सकता है। सभी लोक विनाशी बताकर कर्म यज्ञ यागादि को अदृढ़ पुल बताकर श्रुति ने इस संसार से उबारने का उपदेश दिया है। चाहे कठोपनिषद का यम नचिकेता संवाद है, चाहे छान्दोग्य के उद्दालक-श्वेतकेतु प्रसंग, नारद सनत्कुमार प्रसंग, इन्द्र प्रजापति प्रसंग हैं या बृहदारण्यक का याज्ञवल्क्य मैत्रेयि संवाद है कहाँ तक गिनायें समस्त वेदान्त अर्थात् उपनिषदें संसार की असारता कर्म फल की समन्तता और उपासना की परोक्षात्म गम्यता को पुनः-पुनः वर्णन करके उसका क्षुद्रत्व बताकर आत्म ज्ञान की ओर प्रेरित करती हुई आत्म साक्षात्कार में पर्यवसित होती है।

इसलिये सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति, लय परक श्रुतियाँ कर्म उपासना विवेचक श्रुतियाँ व्यक्ति को सोपान क्रम से आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाती है। साधारण बुद्धि वालों को ज्ञान कराने के लिये यह आरोपमात्र कथन है जिसका बाद में अपवाद करके निष्प्रपंच आत्मा को शेष रख लिया जाता है—

"आरोपापवादाभ्यां निष्प्रपंच प्रपंच्यते"।

तो क्या श्रुति में सृष्टि परक श्रुतियों को मिथ्या मानने से ईश्वर में मिथ्या भाषण रूप दोष नहीं आयेगा?

बिल्कुल नहीं मिथ्या को मिथ्या कहने से मिथ्या भाषण का दोष किस प्रकार आ जायेगा। मिथ्या पदार्थ का विवेचन उत्पत्ति आदि तो उसका मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये है न कि सत्यत्व सिद्ध करने के लिये है। जिसकी दृष्टि में संसार का सत्यत्व विराजमान है उसकी

दृष्टि से यह भ्रम दूर करने के लिये उत्पत्ति ही एक ऐसी युक्ति है जो संसार-सत्यत्व के पर्दे फाड़कर रख देती है। जो सत्य होता है उत्पन्न नहीं होता, जो उत्पन्न होता है सत्य नहीं होता। संसार यदि अनुत्पन्न है तो आत्मा है यदि उत्पन्न हुआ है तो मायामय मिथ्या है।

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि।
अजायमानो बहुधा मायया जायते, तु स ॥24॥

क्या कहीं कोई श्रुति संसार का मिथ्यात्व भी वर्णन करती है? भेदवाद की निन्दा भी कहीं किसी श्रुति में की गई है क्या?

वेद द्वारा अनेक स्थानों पर संसार के मिथ्यात्व तथा आत्मा के सत्यत्व, जीव के ब्रह्मत्व, आत्मा ब्रह्म के एकत्त्व केवलाद्वैत्व का वर्णन किया है "नेह नानास्ति किञ्चन" जगत् जीव जगदीश्वर का लेश-मात्र भेदरूप नानात्व नहीं है। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इन्द्र अर्थात् आत्मा ब्रह्म चेतन माया में अनेक रूप धारण कर लेता है। "अजायमानो बहुधा विजायते" अजन्मा आत्मा मायोपाधि से अनेक रूप में जन्मता हुआ प्रतीत होता है।

अद्वैत का प्रतिपादन इन श्रुतियों के द्वारा प्राप्त होता है "अग्नि-र्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"। एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपो रूपः प्रतिरूपो बहिश्च ॥ और वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपः रूपो प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपो रूपः प्रतिरूपो बभूव (बहिश्च) ॥ जिस प्रकार अग्नि एक होता हुआ भी ईंधन के अनुसार अनेक रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा भी शरीरों के अनुसार अनेक रूप धारण कर लेता है तथा सबके बाहर भी वही विराजमान है, जिस प्रकार वायु अनेक स्थानों में अनेक रूप अनेक नाम धारण कर लेता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त शरीरों में अनेक रूप धारण करके सबके बाहर भीतर विराजमान है।

एकत्त्व जानने की प्रशंसा में कहते हैं "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत." एकात्मा अवलोकन करने वाले को शोक और

मोह कहाँ । "यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ।।" जो आत्मवेत्ता समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा म अवलोकन करता है तथा समस्त प्राणियो मे निजात्मा को समझने वाला है ऐसा एकत्वदर्शी किसी भी प्राणी मे घृणा नही करता ।

अनेकत्व की निन्दा करते हुए कहते है "मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' जो व्यक्ति बाहर भीतर अपने मे दूसरे मे, यहाँ वहाँ, अब तब, आगे पीछे अनेक सा देखता है वह मृत्यु से बराबर मृत्यु को प्राप्त होता है । जीव की वास्तविकता वर्णन करते हुये कहते हैं 'एषत आत्मा अन्तर्य्याम्यमृत' ये तेरा आत्मा ही अन्तर्य्यामी अमृत परमात्मा है । छांदोग्योपनिषद के छटे अध्याय मे महर्षि उद्दालक न अपने पुत्र श्वतकेतु का तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा नौवार आत्मा तथा परमात्मा की एकता का उपदेश दिया है ।

यहाँ तक उद्धरण को उद्धृत किया जाये समस्त वेदान्तो का षट्लिंग प्रक्रिया से अद्वैतात्मा वर्णन म ही तात्पर्य है जो नासमझ प्रत्यक्ष निजात्मा म भी परोक्षता का अधेरा किये बैठा है उसको कौन महानपुरुष या कौन वेद वेदान्त समझा सकता है । सूर्य का प्रकाश भी अन्धे को क्या पथ प्रदर्शन कर सकता है ? अत्यन्त सुन्दर षोडसी भी क्लिब नपुसक मे काम का जागरण कर सकती है ?

सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेन जनयेदिति कारण प्रतिषिध्यते ।।25।।

सम्भूति अर्थात् सम्भव, उत्पत्तिका या कार्य का पुन पुन अपवाद करके वस्तुत तो ससार की उत्पत्ति का निषेध किया है और आत्मा को निर्विकार वर्णन किया गया है । "को न्वेन जनयेद्" इस अजन्मा को कौन जन्म दे सकता है इस श्रुति के द्वारा आत्मा मे कारणत्व का निषध किया गया है इसका अपना कोई कारण नही और यह भी किसी का कारण नही । सम्भूति के उपासक घोर अधेरे मे प्रवेश करते हैं –"अन्धतम प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते" । अतो नाम मे कार्य ब्रह्म स्वीकार करके कार्य ब्रह्म जगत की

उपासना करने वाले सदा विक्षेप शक्ति से दोलायमान जन्म रूप अंधेरे मे प्रवेश करते है अर्थात् उनको अपने में सदा जन्म मरण भासता रहता है।

साथ ही असम्भूति की उपासना करने वाले भी उनमे अधिक घोर अंधेरे मे विराजमान है इसका कारण ये है परमात्मा मे कारणता स्वीकार करके कारण ब्रह्म रूप प्रधान जो आवरण रूप है उसकी उपासना अर्थात् मायोपाधित ब्रह्म की उपासना भी चिर निद्रा प्रदायक प्रकृति लयावस्था प्रदान करने वाली है जो आवरण रूपा विक्षेप की जनना है। विद्या और अविद्या की उपसना को भी इसलिये अन्ध और अन्धतम बतलाया गया है जिससे अपने आप मे अन्यथा ग्रहण रूप अज्ञान का डेरा सा लगता है और विपर्यय मति होकर कष्ट पर कष्ट उठाना पड़ता है।

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥26॥

"अर्थात आदेशो नेति नेतीति" उपनिषद् जितने सिद्धान्त व्यक्ति कल्प सकता हैं उन सबको यथास्थान वर्णन करके उनको नेति नेति कहकर उनकी इयत्ता बताकर आत्मा को उस परिकल्पना नसे अछूता वर्णन करती है। केनोपनिषद् मे मन, वाणी, चक्षु श्रोत्र आदि सभी की आत्मा के ग्रहण मे असमर्थता वर्णन की है आगे समस्त देवताओं द्वारा आत्म ग्रहण मे असमर्थता दिखाई गई है। विचार सागर के मंगलाचरण में भी यही रहस्य प्रगट किया गया है—

जो सुख नित्य प्रकाश विभु नाम रूप आधार।
मति न लखे जेहि मति लखे सो मैं शुद्ध अपार॥

इस दोहे की अर्थ गहनता को विचार सागर के अभ्यासी जानते है उसका सार रूप मे वर्णन हम भी कर देते है—'जो सुख स्वरूप है' यह लक्षण अति व्याप्ति दोष से सयुक्त है क्योकि सुख तो इन्द्रियों के समस्त विषय भी माने जाते है इनमे यह लक्षण आत्मा के साथ-साथ अतिव्याप्तती को प्राप्त हो जाता है जो दोषरूप है। इसको निवृत्त करने के लिए नित्य विशेषण और साथ जोड़ दिया गया है तो अब

आत्मा का लक्षण हुआ "जो आत्मा नित्य सुख स्वरूप है"। इस लक्षण मे नित्यता भी अति व्याप्ति दोषयुक्त है क्योंकि न्याय वैशेषिक आत्मा परमात्मा, मन, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भू इन सभी को नित्य मानते हैं यह नित्य लक्षण उनमे भी व्याप्त होने के कारण अति व्याप्ति दोषयुक्त है। साथ ही सांख्य योग प्रकृति पुरुष दोनो को नित्य मानते है नित्य लक्षण आत्मा मे होता हुआ इनमे भी जा पहुँचता है। इस अति व्याप्ति दोषवारण के लिए आत्मा को प्रकाश विशेषण या लक्षण से और विभूषित किया है। इसमे आत्मा का लक्षण हुआ "आत्मा नित्य सुख स्वरूप प्रकाश रूप है"।

इस लक्षण मे जो 'प्रकाश' लक्षण जोडा गया है वह भी अति व्याप्ति दोष से संयुक्त है क्योंकि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली आदि भी जो भौतिक प्रकाश है उनमे से लक्षण और भी आत्मा के अतिरिक्त जा प्रवेश होता है। इस अति व्याप्ति दोष वारण के लिए विभु शब्द और लक्षण मे जोड दिया गया है, तो अब आत्मा का लक्षण हुआ, "आत्मा नित्य सुख स्वरूप विभु प्रकाशमय है।" यह विभु लक्षण भी अति व्याप्ति दोष वाला है क्योंकि न्यायमत मे दिशा काल आत्मा इन सभी को विभु माना है। इस प्रकार विभुता आत्मा का निर्देशन करती हुई उपर्युक्त तत्वो मे जा प्रविष्ट होती है।

इस लक्षण मे से अति व्याप्ति वारणार्थ "नाम रूप आधार" यह और जोड दिया गया है क्योंकि विभु आकाश, दिशा, काल और आत्मा को न्याय मे नाम रूप का आधार स्वीकार नही किया गया। इस प्रकार आत्मा का निर्दोष लक्षण हुआ—जो आत्म नित्य सुख स्वरूप विभु, प्रकाश, अर्थात् ज्ञान स्वरूप तथा नाम रूप का आधार है यह एक पक्ति का अर्थ हुआ। वैसे तो दो-दो लक्षण साथ जोडने से ही अतिव्याप्ति दोष निवृत्त हो जाता है परन्तु जिज्ञासु के विशेष बोधार्थ ये लक्षण वर्णन किया गया है।

दोहे की नीचे वाली पक्ति का अर्थ करते हुए बताते हैं—"मति न लखे" जिसे बुद्धि नही जान सकती, "मति लखे" जो बुद्धि को जानने वाला है। दूसरा अर्थ जिसे विषयासक्त स्थूल बुद्धि नही देख सकती वैराग्य युक्त तीव्र एकाग्र बुद्धि जिसे समझ सकती है। तीसरा

अर्थ जिसको बुद्धि अभिधा वृत्ति से नहीं समझ सकती लक्षणावृत्ति मे समझ सकती है। चौथा अर्थ जिसको बुद्धि जहति लक्षणा या अजहति लक्षणा से नही समझ सकती जहत्यजहती जिसे भाग त्याग लक्षणा भी कहते हैं इससे बुद्धि समझती है। पाँचवाँ अर्थ जिसे बुद्धि फल व्याप्ति से नही समझ सकती वृत्ति व्याप्ति से समझती है। वही शुद्ध ब्रह्मात्मा मै हूँ।

उपर्युक्त दोहा भी जिस आत्मा को समझने के लिए प्रक्रिया का आरोप मात्र (चन्द्र शाखा न्यायवत्) करता है अन्यथा आत्मा सबका अधिष्ठान होने के कारण उसमे ग्राह्यता कहाँ सम्भव है वह सबको ग्रहण करता है उसे किस प्रकार ग्रहण किया जाये—

प्रमातरं सेन प्रमाणेन विजानीयात्"

भला समस्त प्रमाणों को जानने वाला प्रमाता आत्मा किस प्रमाण से जाना जा सकता है। श्रुति का कथन—

"यस्यामत मत तस्य मतं यस्य न वेद स"

अपना स्वरूप होने के कारण जानने का विषय नही जो इस बात को मानता है वह आत्मा को जानता है और जो अपने से अलग आत्मा को ज्ञेय समझकर जानता है, वस्तुत वह आत्मा को नही जान सकता, भले वह आत्मा को जानने का दावा करे इन सब अग्राह्यता वाले श्रुति वाक्यो से उसे अज स्वीकार किया गया है।

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥27॥

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव जायते।
बन्ध्या पुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥28॥

वैतथ्य प्रकरण से ससार का मिथ्यात्व दिखाया गया है तथा अद्वैत प्रकरण मे जीव के जन्म का निषेध करते हुए इसकी आत्म-स्वरूपता दिखाई गयी है। जीव के जन्म की बात वेद वेदान्तो मे कही भी नही कही गई है। संसार की उत्पत्ति का सांगोपांग वर्णन अनेक स्थानो पर अवलोकन किया जा सकता है परन्तु जीव की उत्पत्ति का वर्णन कही देखने को नही मिलता। हाँ परमात्मा की

प्रविष्ट ससार मे तथा शरीर मे जीव रूप मे अनेको स्थान पर देखी जा सकती है। "स मूर्धानं भित्त्वा प्राविशद्" वह मूर्धा का भेदन करके शरीर मे प्रविष्ट हुआ।

सर्वव्यापकता के कारण अनेक प्राणी तथा पदार्थ मे उसका प्रवेश तो पूर्व ही हो गया है, जीव रूप मे अन्तःकरण का आश्रय लेकर उनका अनुप्रवेश उपनिषद् मे वर्णन किया गया है। जिस प्रकार घट मे आकाश पूर्व प्रविष्ट है किन्तु घट मे जल भरने पर जल के माध्यम से आकाश प्रतिबिम्ब रूप से अनुप्रवेश करता है इसी प्रकार परमात्मा का देह मे अनुप्रवेश है।

वैसे तो ससार का जन्म भी आत्मा मे माया से मिथ्या प्रतीत होता है फिर नारायण स्वरूप जीव (जिसकी उपाधि के अस्तित्व स्वीकार करने पर उपाध्यवच्छिन्न चेतन जीव कहलाता है) का जन्म तो किस प्रकार सम्भव है।

सत् स्वरूप जीव अर्थात् आत्मा का जन्म यथातथ्य तो कभी सम्भव है नही केवल माया से उसकी जन्म की कल्पना करे तो और बात है। वास्तव मे, सत्य का जन्म माना जाये तो सत्य सदा विराजमान है उसका जन्म कहना जन्मे हुये का जन्म है जो वदतो व्याघात मात्र है।

माया से तो असत् का जन्म भी माना जा सकता है तत्त्व से असत् का जन्म कभी सम्भव नही। माया से असत् के जन्म की कथा-मात्र है अन्यथा वन्ध्यापुत्र को न तो वास्तव मे जन्मा देखा गया है और न माया से जन्मा देखा गया है।

क्यो जी! जीव की सत्ता को अजन्मा परमात्मा से अलग क्यो न स्वीकार कर लिया जाये। योग शास्त्र मे भी पुरुष दो माने गये है जीव को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँच क्लेशो से युक्त माना गया है और परमात्मा को उनसे मुक्त बतलाया गया है। और भी कई जीवात्मा परमात्मा के भेद माने गये हैं जीव अल्पज्ञ है, परमात्मा सर्वज्ञ है, जीव एक देशीय अणु है परमात्मा सर्वव्यापक है, जीव कर्ता भोक्ता है, परमात्मा कर्ता भोक्ता नही, जीव केवल सत् चित् है परमात्मा सच्चिदानन्द है। और श्रुति भी

"द्वा सुपर्णा॰" इस मन्त्र मे इनकी अलग-अलग रहकर दोनों की उपस्थिति एक ही शरीर में मानी है। अधिकतर शास्त्रकार इस मत को स्वीकार करते है इसलिये जीवात्मा, परमात्मा को दो अलग-अलग सत्ता क्यों न स्वीकार कर लिया जाये ?

ऐसा मानने से जीव की अमुक्ति का प्रसग आ जायेगा क्योकि जीव मे पाँच क्लेशों को उसके स्वरूप में सयुक्त कर लिया जाये तो इनसे कभी इसकी मुक्ति न होगी इस प्रकार सदा बँधा रहेगा। ईश्वर जीव दोनों को अलग अलग माना जाये तो घट पट की भाँति व्यापक व्याप्य सम्बन्ध न बन सकेगा और दोनों एक देशीय होने के कारण विनाशी सिद्ध होगे क्योकि ससीम पदार्थ विनाशी होते है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व जीव मे वास्तविक मान लिये जायें तो भी मुक्ति का प्रसग कदापि सम्भव नही क्योंकि वास्तविकता का परित्याग होता ही नही। रही सर्वज्ञता और अल्पज्ञता की बात यह अन्तर अल्प और सर्व की केवल अल्प और सर्व की उपाधि से है अन्यथा ज्ञानस्वरूपता आत्मा का स्वरूप लक्षण है वह एक ही है। सत् चित् और सच्चिदानन्द का अन्तर तो हास्यास्पद है। जीवात्मा में अपने प्रति प्रियता आनन्द स्वरूपता सबको अनुभूत है तो उसको आनन्द से खाली किस प्रकार मान लिया जाये ?

'द्वा सुपर्णा॰' वाली श्रुति भी ईश्वर जीव इन दो की बात नही कहती अपितु साक्षी और चिदाभास इन दो की बात कहती है। इसमे आभास साक्षी की ही औपाधिक अलग प्रतीति मात्र है। इसलिये द्वैत स्वप्न मात्र मे भी सिद्ध नही होता। 'एको देव सर्व भूतेषु गूढ" एक ही देवता समस्त भूतो मे गूढ रूप से विराजमान सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी नाम रूप से छिपा हुआ कल्पित नाम रूप का सत्य अधिष्ठान है। मैं-मैं रूप से सभी मे बोलने वाला अखण्ड सत्ता समस्त प्राणियो की एक आत्मा मैं सच्चिदानन्द हूँ।

यथा स्वप्ने द्वयाभास स्पन्दते मायया मन ।
तथा जाग्रद्द्वयाभास स्पन्दते मायया मन ॥29॥

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥30॥

जिस प्रकार मन ही स्वप्न में माया से स्पन्दित हुआ-हुआ द्वैत रूप में भासता है उसी प्रकार जाग्रत में भी माया से मन ही स्फुरित होकर चराचर प्रपञ्चरूप से भास रहा है।

आत्मा सदा अद्वैत सत्ता, साक्षी रूप से अधिष्ठान है उसी के आश्रित स्वप्न में मन ही द्वैत रूप में भासित हो रहा है इसी प्रकार जागृत में शुद्ध सच्चिदानन्द अखण्ड अद्वैत सत्ता साक्षी रूप से सदा अधिष्ठान है उसी के आश्रित मन ही द्वैत रूप में आभासित हो रहा है इसमें कोई संशय नहीं।

अब चाहे मन जाग्रत स्वप्न में हमारे आश्रित सांकल्पिक पुल बनाता रहे और चाहे माया में लय होकर प्रलय कर डाले हम आत्मा में कुछ अन्तर होने वाला नहीं। अपने आप को ठीक-ठीक समझ लेने पर शोक और चिन्ता सभी का देवाला निकल गया। हमारे आश्रित हमसे सत्ता लेकर हमारे प्रकाश में मन तुम्हारे स्वांग तुमको ही सुखी दुःखी करें हमारा इसमें बाल बांका होने वाला नहीं। तुम्हारा बनना बिगड़ना, तुम्हारा रूठना मनना, तुम्हारा आवागमन, तुम्हारा बन्ध मोक्ष, तुम्हारा सुख दुख, तुम्हारे हेरफेर, तुम्हें मुबारिक। हमारी एकरस निर्विकारता हमें मुबारिक। मन ने पूछा, "क्या मैं तुमसे अलग हूँ?" हमने कहा, "अलग नहीं हो तो आनन्द मनाओ अलग हो तो दुःख उठाओ। अलग तो नहीं हो अलग मानकर देख लो।"

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥31॥
आत्म सत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥32॥

यह चराचर जगत मन रचित मनोमात्र मन से दीख रहा है। मन के अमन होते ही द्वैत का लेशमात्र भी भान नहीं होता। जब आत्मा की सत्यता का अधिष्ठान रूप से ज्ञान होता है तथा मन

संकल्प विकल्प से निवृत्त होता है तो अमनता को प्राप्त हो जाता है तो मन और मन का ग्राह्य प्रपंच दोनों निवृत्त हो जाते हैं।

शंका—क्या मन कभी निवृत्त भी हो जाता है ?

समाधान—जी हाँ आत्मरति से मन अमन होकर आत्म रूप से रह जाता है।

शंका—मन की प्रतीति कभी-कभी तो निवृत्त हो जाती है परन्तु सदा-सदा को नही ?

समाधान—प्रारब्ध भोग तक मन का बाध तो हो जाता है परन्तु निवृत्ति प्रारब्ध भोगोपरान्त होती है क्योंकि मन सोपाधिक भ्रम है। प्रारब्ध उपाधि है। सोपाधिक भ्रम अधिष्ठान ज्ञान से बाधित तो हो जाते हैं किन्तु उपाधि निवृत्ति तक भासते रहते हैं।

शंका हमने तो यह सुना है ज्ञानी की प्रारब्ध भी नही रहती ?

समाधान—धन्यवाद ! आपने सचमुच बहुत ठीक सुना है ज्ञानी की प्रारब्ध थी ही कब। ये तो अज्ञानी जन के समाधानार्थ है।

शंका—मन पहले फुरता है और प्रपंच बाद में क्या ऐसा है ?

समाधान—बिलकुल नही सब साथ-साथ फुरता है केवल समझने समझाने के लिये क्रम संस्थापित कर लिया गया है।

शंका—आपका यह कथन मन से संसार बना है इससे मन इसका कारण प्रतीत होता है ? तथा मन के अमन होने से संसार निवृत्त हो जाता है इस कथन से भी मन संसार का कारण प्रतीत होता है ? क्या ऐसा नही ?

समाधान—वस्तुतः मन और संसार सब एक साथ फुरा है केवल वर्णन करने के लिए तथा आत्मज्ञानार्थ इनको क्रम में रखकर कारण कार्य कल्प लिया गया है। जिस प्रकार श्रुति ने कहीं तो भूतों की उत्पत्ति पूर्व कहकर मन, प्राण, इन्द्रियों की उत्पत्ति उनसे मान ली है और कही संकल्प रूप मन की उत्पत्ति कहकर समस्त प्रपञ्च को बाद में कहा है। इस प्रकार मन को भूतों का कारण मान लिया है। केवल आत्मज्ञानार्थ संसार वन्ध्या पुत्र की जन्मपत्री बनाई गई है।

अन्यथा वस्तुत अनहुई इस माया पुत्र की क्या उत्पत्ति और क्या विनाश ?

शका—आपकी बात मानकर कारण कार्य सिद्धान्त ही नष्ट हो जायेगा ?

समाधान—कारण कार्य सिद्धान्त मिथ्या प्रतीति मात्र माया है इस कारण कार्य का कल्पित शृखला मे बधा हुआ ससार अपने आपको कुछ का कुछ समझ रहा है। इसी मे उबारने के लिये आगे अलात शान्ति चतुर्थ प्रकरण म इस मान्यता का भली-भाँति खण्डन किया जायेगा तथा आत्मा की कारण कार्य,से अत्यन्त असम्बन्धता दिखलाई जायेगी।

शका—माया, मन, ससार इन सबकी परिभाषा क्या है ?

समाधान—ये सब नाम एक ही मिथ्या प्रतीति के हैं जो आपको अपने आप मे प्रतीत हो रही है। खडित करके इसके अनेक नाम रख लिए गये है।

> अकल्पकमज ज्ञान ज्ञेयाभिन्न प्रचक्षते ।
> ब्रह्म ज्ञेयमज नित्यमजेनाज विबुध्यते ॥33॥

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय वस्तुत ये तीनो प्रतीति त्रिपुटी रूप मे प्रतीत होने वाली ज्ञानस्वरूप आत्मा मे कल्पित है अथवा यो कहिये माया मे ज्ञान स्वरूप आत्मा ही ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप म प्रतीत हो रहा है। अन्त करण की ज्ञातृत्वाभिमानिनी वृत्ति, अन्त करण की फलत्वपरिणामिनी वृत्ति तथा अन्त करण की विषयाकारिणी वृत्त्यवच्छिन्न चेतन ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय कहलाता है। जिनका प्रगट करके अपनी माया मे चेतन ही चिदाभास रूप म प्रकाशित करता है।

सासारिक वस्तुओ के बोध मे प्रमाता प्रमाण प्रमेय फल ये चार नाम आरोपित मन रूप माया के है जिनको अन्त करण तथा अन्त करण की वृत्ति कहा जाता है जो चिदाभास द्वारा प्रकाश्य है। इनको वेदान्त भाषा के अनुसार चार चेतन कहा जाता है—(1) प्रमाता चेतन (2) प्रमाण चेतन (3) प्रमेय चेतन और (4) फल चेतन।

जब तक अन्त करण केवल अन्त करण है वृत्ति के रूप में परिणित

नहीं हुआ अपने में प्रतिबिम्बित चेतन सहित प्रमा ज्ञान कर्तृत्वा-वच्छिन्न प्रमाता कहलाता है। जब अन्तःकरण परिणित होकर वृत्ति-रूप में आया तो अन्तःकरण से लेकर ज्ञानेन्द्रिय में होता हुआ विषय में पहुँचा तो अन्तःकरण से लेकर विषयाकार होने से पूर्व विषय तक वृत्त्यवच्छिन्न चेतन तथा चिदाभास सहित प्रमाण कहलाता है। विषयाकार चिदाभास भास्य वृत्त्यवच्छिन्न चेतन प्रमेय कहा जाता है। ज्ञानाकार वृत्त्यवच्छिन्न चेतन फल चेतन समझा जाता है। एक चेतन ही वृत्तियों द्वारा विखण्डित सा हुआ-हुआ चार नामों को प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त प्रक्रियानुसार वृत्ति की अनेकरूपता से चेतन में अनेक रूपता मान ली गई है। अनेक प्रमेय विषयज्ञानावच्छिन्न वृत्ति फलाकार हुई हुई एक ज्ञान मे अनेक ज्ञानों की कल्पक समझनी चाहिये। एक बात अत्यन्त ध्यान देने योग्य है वृत्तिजन्य ज्ञानाभास जो विषयोपाधित हैं वे सब सविकल्प हैं उनको निर्विकल्प नहीं माना जा सकता। आत्मा निर्विकल्प ज्ञान है जो ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय सभी का अधिष्ठान होने के नाते ज्ञेयाभिन्न कहा जाता है। अधिष्ठानता धर्म से भी ज्ञेयाभिन्न है तथा विषयाकार अथवा ज्ञेयाकार वृत्ति मे चिदाभास रूप से भी ज्ञेय से अभिन्न होकर ही ज्ञेय का प्रकाशक है, इसलिये ज्ञेयाभिन्न निर्विकल्प ज्ञान ज्ञेय रूप से ब्रह्म कहलाता है नित्य है इस प्रकार अजज्ञान जो ज्ञातृत्वावच्छिन्नोपाधि वाला ज्ञाता है इसके द्वारा अजब्रह्म ज्ञेयत्वावच्छिन्नोपाधि वाला है जाना जाता है, वे है "अजेनाजं विबुध्यते"।

> निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
> प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥34॥
>
> लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते।
> तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥35॥

शास्त्रोपकृत गुरूपकृत प्रज्ञायुत साधक अपने मन के निग्रह से अपनी निर्विकल्पता को पाकर कृतकृत्य हो जाते है यही उनकी आत्माभ्यास रूप साधना है। सुषुप्ति और इस अवस्था में अत्यन्त अन्तर है।

सुषुप्ति म तो मन लय हो जाता है परन्तु निग्रहीत मन लय न होकर आत्माकार होता है। मन निग्रहीत हुआ-हुआ जिस ब्रह्म मे जा घुलता है वही सर्वत्र ज्ञानालोक हेतु ज्ञानस्वरूप निर्भय ब्रह्म है।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभात सर्वज्ञ नोपचारः कथञ्चन ॥36॥

मन का कल्पा हुआ ब्रह्म अज नही अपितु मन जहाँ से उत्थान को प्राप्त होता है तथा मन कल्पना सहित जिसमे निवृत्त होता है मन से पूर्व विराजमान अज ब्रह्म है। यो तो मन सुषुप्ति मे लय हुआ-हुआ माना जाता है परन्तु वहा निवृत नही होता केवल बेहोश हो जाता है और ब्रह्माकार हुआ-हुआ जीवित सा प्रतीत होता है किन्तु निवृत्त हुआ-हुआ होता है। क्योकि ब्रह्माकार मन मे मनत्व के प्रति सत्यत्व धारणा नही अपितु अपने मे ब्रह्मत्व धारणा है।

आत्मतत्त्व अज्ञान की आवरण शक्तिरूपा सुषुप्ति को अपने कल्पित अर्थ मे लिये हुए भी उससे अछूता है तथा आवरण और विक्षेपयुक्त स्वप्नावस्था से भी अत्यन्त अस्पृष्ट है। साथ ही स्व-प्नान्तररूप जाग्रत प्रपच मे भी अछूता है। जिसका कोई नाम और कोई रूप नही है इतना अवश्य है समस्त नाम रूपो की कल्पना का धारक ये ही है। अपनी ज्ञानस्वरूपता से सदा देदीप्यमान है सर्व का ज्ञाता है, उसकी प्राप्ति सदा सबको है और बिना किसी साधन ही प्राप्त है।

'नोपचार कथञ्चन' कुछ भी उपचार नही अर्थात् आत्मप्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयत्न नही करना पडता। उत्पाद्य, गम्य, विकार्य, सस्कार्य य चारो ही वस्तुए प्रयत्न साध्य है, इनके अतिरिक्त और कही प्रयत्न साध्यता नहीं। आत्मा अज है इसलिए उत्पाद्य नही, आत्मा सबका स्वरूप होने से सदा अपने आप है इसलिए गम्य नही, निर्विकार होने से विकार्य नही, सदा शुद्ध होने से सस्कार्य नही। इस लिए आत्मा केवल ज्ञान गम्य है।

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥37॥

सच्चिदानन्द परमानन्द स्वरूप अज अखण्ड अद्वैत एकरस आत्मा समस्त प्रकार के वाचारम्भण से परे है। आत्मा मे किसी प्रकार का अभिधेय अभिधान भाव नही इसलिये *आत्मा समस्त अभिलाप विगत* है। भूत भविष्य वर्तमान तीनों काल में आत्मा अजर अमर अविनाशी निर्विकार संसार विकार से अस्पृष्ट है। आत्मबोध होते ही कल्पित संसार की निवृत्ति हो गई है इसलिए संसार के साथ ही संसार का मूल और संसार का फल चिन्ता का भी विस्तर गोल हो गया है।

समस्त माया और माया का परिवार आत्म निश्चय होते ही अनहुआसानहुआ हो गया है। आत्मा प्रशान्त सुस्थिर सत्ता रूप से सुशोभित हो गया है, सुशोभित हो रहा है। एकरस सदा आत्मा ज्ञानस्वरूप समस्त माया प्रपञ्च का प्रकाशक है। कभी भी आत्मा मे अज्ञान का प्रवेश नही होता, भले इसके आश्रय पर अज्ञान अपनी रचना खडी करता रहे *आत्मा की ज्ञानस्वरूपता उसको भी जानते हुये* प्रकाशित करती है।

आत्मा सदा अचल समाधि रूप है यह आत्मा की समाधिस्वरूपता चित्त की एकाग्रता वश प्राप्त हुई-हुई *समाधि नही अपितु* चित्तैकाग्रा भाव मे प्रतिविम्बित आत्मा की यह बिम्बरूप वास्तविकता है। इस समाधि शब्द को सुनकर ही अज्ञानी जन समुदाय आत्म साक्षात्कार को "ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा" मान लेते है। अन्यथा आत्मा सदा अचल समाधि रूप है अद्वैत है जिससे अभय है। द्वैत भय का हेतु होता है, अद्वैत आत्मा मे भय का क्या सम्बन्ध। द्वैत मिथ्या होने से सत्य स्वरूप अद्वैत की क्या हानि करेगा। इसलिए आत्मा निर्भय है।

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्म संस्थं सदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥38॥

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥39॥

विचित्र बात है ज्ञानवान् अपने तन मन को क्रियारत देखते हुए भी इन क्रियाओं को अपने आत्मा में मानता ही नहीं । तीनों लोक मिलकर भी जगत की सत्यता का उद्घोष करें तो भी आत्मवेत्ता अपने आप में इनको स्वीकार नहीं करता । बड़ा आश्चर्य है, सब कहते हैं यह व्यक्ति अमुक जाति में अमुक माँ-बाप से उत्पन्न हुआ है तो भी आत्म सत्य अपना जन्म स्वीकार नहीं करता । सब की दृष्टि में आत्मा का सम्बन्ध पाप पुण्य, शुभाशुभ, जन्म-मरण आवागमन से है परन्तु आत्मवेत्ता इन सबको अपने आत्मा में लेशमात्र स्वीकार नहीं करता ।

कितनी विचित्रता है सभी जगत में प्राणी समुदाय ग्रहण और त्याग के चक्र में डूबतर रहे हैं परन्तु ज्ञानवान को ग्रहण त्याग की लेशमात्र चिन्ता नहीं । ग्रहण का ग्रहण और त्याग का परिताप आत्मवेत्ताओं को दुःख नहीं पहुँचा सकता वह ग्रहण त्याग से परे अपने आत्मा में विराजमान है। उनका ज्ञान अजाति को अनुभव करके अजाति भाव को प्राप्त होकर समता को प्राप्त हो गया है ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सभी मात्रायें अपने अधिष्ठान भूतों सहित आत्मा में जब कल्पित अनुभव कर लिये गये तो वृत्ति की अवृत्तिता में ज्ञान किसी भी आकार को प्राप्त नहीं होता और समता को प्राप्त हो जाता है ।

अहाहा ! अहाहा ! यह भी कितना विचित्र विशिष्ट योग है जिसमें अपने से अलग धारणार्थ कोई पदार्थ है ही नहीं । किसी को बिना छूये हुये ही अपने आप से योग हो रहा है । साधारण धारणा, ध्यान, समाधि प्रक्रिया पालन करने वाले योगी भला इस रहस्य को क्या समझ सकते हैं ? "निराधार मन चकित धावे" वाले शकित योगियों को कुछ न कुछ कल्पित आधार चाहिए ही । अपने आप में ध्यान कल्पना का डूब मरना उनकी समझ में आ ही नहीं सकता ।

अकेले अपने आपसे डर, भक्तो तथा योगियो दोनो को लगता है। बेचारों को सहारा लेने की आदत जो पड़ गई है। अब तक तो संसार का सहारा लेकर जी रहे थे और अब कल्पित भगवान की छत्रछाया में मनमानी मौज कर रहे है। इनकी कल्पना से घडा गया लक्ष्य इन को सब कुछ प्रतीत हो रहा है। निराकार में मन टिककर किसी को निर्विकल्प समाधि का वहम हो रहा है और कोई साकार की कल्पना में कामभोगार्थ सेज सजा रहा है।

किसी को वैकुण्ठ से बुलावा आया है वह विचारा वहाँ जाने के लिये सामान बांध रहा है, कोई गोलोक, कोई साकेत, कोई जन्नत, कोई हैवन की तैयारी कर रहा है। कोई अयोध्या, कोई ब्रज वृंदावन, कोई मदीना, कोई हरिद्वार, ऋषिकेश की मिट्टी को मस्तक मे रगड़े जा रहा है। कोई काशी, कोई काबा, कोई रोम, कोई यरुशलम को केन्द्र मानकर इनके चारो ओर चक्कर लगा रहा है।

उन विचारो को आत्मा का अकेलापन और इन कल्पनाओ का मिथ्यात्व अपने आप मे अपनी विराजमानता रूप अस्पर्श योग मे डर लगता है। यह विपर्यय संस्कारो की देन है।

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥40॥

चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी मन के निग्रह से समस्त योगियो को अभयता प्राप्त हो जाती है परन्तु मन के चंचल होते ही अज्ञानी योगी वियोगी हो जाता है क्योकि संसार को तन मन को सत्य मानने के कारण उसका दुःख फिर हरा हो जाता है। इस प्रकार न तो अज्ञानी का अत्यन्त दुःख क्षय है और न उसे श्रवण मनन निदिध्यासन के अभाव मे आत्मबोध है तथा न आत्मबोध के अभाव में उसके निश्चय में द्वैत निवृत्ति है इसलिए उसकी शान्ति भी अक्षय नही।

परन्तु ज्ञानवान अपने आत्म प्रकाश में समस्त द्वैत प्रपञ्च रूप तिमिर का भोग लगा जाता है इसलिए स्वप्नवत् मनोरथवत् गन्धर्व नगरवत् मिथ्या प्रतीत होने वाला तन, मन और संसार तथा इनके साथ मानापमान, सुख-दु:ख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की व्यथा भी उस तक नही पहुँचती।

ज्ञानवान मन की एकाग्रता और मन के चाञ्चल्य दोनो का साक्षी सदा अचल है। अज्ञानी अपने आप को मन के साथ तादात्म्य करके मन की एकाग्रता को अपनी एकाग्रता मानता है और इस अवस्था के लिए संघर्ष करता है। ज्ञानवान् संसार के प्रति उपेक्षा रखता हुआ अपने आपको साँसारिक धर्मों से अछूता मानता है और अज्ञानी ससार को सत्य मानकर उसको अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करता है जब ऐसा नही होता तो दु:ख मानता है।

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैक बिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥41॥
उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तदा ॥42॥

अज्ञानियों को मन का निग्रह इतना कष्टप्रद होता है जितना कुशाग्र से एक-एक बूंद करके समुद्र को उलीचना परन्तु ज्ञानवान समझदारी से मन का निग्रह धैर्य पूर्वक बिना किसी खेद के कर लिया करते हैं।। मन के निग्रह से श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा जीवन मुक्ति वा आनन्द प्राप्त होता है इसलिए ज्ञानवान् को भी मन का सयम करना होता है किन्तु उसको इसमें धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते हुए भी आनन्दानुभूति होती है।

उपाय पूर्वक जो मन काम भोगों की लालच में विक्षिप्त हुआ-हुआ है उसका संयम करे। ससार के मिथ्यात्व और दु:ख रूपता का पुनः-पुन: स्मरण करके संसार के भोगों की ओर से मन हट जाता है। गुरुमत मन थका-मादा जब निज स्वरूप की ओर वापिस आता है तो सुषुप्ति तन्द्रा आदि लय स्थिति में जाने लगता है तो सम्बोधित करके

आत्मज्ञान से सुजागृत करके अपने आप मे उपस्थित होने की प्रेरणा करे।

आत्मा तो सदा विमुक्त है आत्मा मे तो बन्धन कभी होता नही उसका मुक्ति से भी कोई सम्बन्ध नही। बन्धन और मुक्ति मन की मान्यता ही है, जब मन मान लेता है मै मुक्त हूँ तो मुक्त है। जब तक मन बन्धन मानता है तब तक बन्धन है। इसलिए मन की आत्माकारता परमावश्यक है।

दु खं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥43॥
लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥44॥

महर्षि पतञ्जलि के मतानुसार "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध" भगवान कृष्ण के मतानुसार "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन गृह्यते।" उपर्युक्त दोनो के मतानुसार अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध होता है। इसी मत को परिपुष्ट करते हुए कहते है "सर्वं दु खम्" समस्त प्रपञ्च दु खरूप है, 'दु खालयम्' दु खालय है। भगवान बुद्ध के मतानुसार—सर्वंदु खम्, सर्वं क्षणिकम्, सर्वं आनात्म्यम्, सर्वं शून्यम् यही इस प्रपञ्च की परिभाषा है। समस्त वेदान्तो का तात्पर्य भी ससार की दु खरूपता तथा मिथ्यात्व वर्णन करने मे है।

अपने जीवन मे भी ससार की दु खरूपता असारता पतिक्षण परिवर्तनशीलता प्रत्येक के अनुभव मे आती है किन्तु मोहवश आँखें खुल-खुलकर भी बन्द हो जाती है। निज कल्याणेच्छु पुन पुन विषयो की दु खरूपता का अनुभव करके कामभोग से अपने मन का परावर्तन करे उधर से अपना मन हटाए। तथा सब कुछ मुझ आत्मा से अलग है ही नही। समस्त प्रपञ्च अज आत्मा मे मिथ्या प्रतीत हो रहा है कुछ पैदा हुआ ही नही ऐसा निश्चय करके आत्माकार वृत्ति का अभ्यास करे। "यत्र-यत्र मनोयाति तत्र-तत्र ब्रह्म दर्शनम्" जहाँ-जहाँ मन भागे वहाँ-वहाँ अज आत्मा अवलोकन करे यह अभ्यास का स्वरूप है।

यदि चित्त आवरणरूपा, कारणरूपा, निद्रास्वरूपा माया में लय होने लगे तो चित्त को पुन:-पुन: आत्मज्ञान द्वारा जगाता रहे। जिस प्रकार सर्प का काटा व्यक्ति सोने की ओर दौड़ता है। उसको जगाया न जाये तो वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार विक्षेप रूप अज्ञान से काटा हुआ जीव आवरण रूप निद्रा की ओर भागता है, जहा इसकी पुरुषार्थहीनता रूप मृत्यु अवश्यम्भावी है इसलिए श्रवण मनन के आत्म विचार के डमरु से इसे जगाते रहना चाहिये।

और चित्त यदि विषयाकांक्षा से पुन. विक्षेप को प्राप्त होवे तो वैराग्य अभ्यास से उसे शान्त करना चाहिये। जिस प्रकार पागल कुत्ते का काटा हुआ व्यक्ति यदि भौंकना प्रारम्भ कर देवे तो इतना अनर्थ होता है कि वह स्वयं तो बाद मे मरता है उससे पहले अनेको को काटकर या मुह लगाकर विष प्रविष्ट करके पागल बनाकर मार देता है। उससे अवकाश पाने का एक ही उपाय है उसको रस्सी द्वारा खूटे से बाँधकर कोई पास न जाये और ठण्डा पानी उस पर डालता रहे तो वह निवृत्त हो जाता है और उससे जान छूट जाती है। पागल कुत्ते द्वारा काटने पर तुरन्त परिचार न किया जाये तो कुछ समय बाद भौंक उठने पर उसका कोई परिचार नही है।

यही हाल चित्त का है विषयाकांक्षा से काटा हुआ चित्त जब तक विषयोपभोग रूपी भौंक नही उठती तब तक इसका परिचार सरल है यदि विषयोपभोग की पुन.-पुन. आयोजना से यह पागल हो गया तो फिर परिचार करना कठिन है। तब तो वैराग्य की शृंखला से इसको बाँधकर आत्म ज्ञान का ठण्डा जल इसके ऊपर डालकर के ही उसका शमन किया जा सकता है।

यदि मन सकषाय अर्थात् साँसारिक आकाक्षा, भोग लिप्सा से सयुक्त हो तो उसका ज्ञाता होता हुआ उपर्युक्त साधनो से उसका परिचार करे तथा मन यदि समत्व भाव को प्राप्त हो जाये, आत्माकार हुआ-हुआ असंगता मे विराजमान आत्मा की कूटस्थता एकरसता से भरपूर होवे तो "न चालयेत्" उसको हिलाये-जुलाये नही। अकर्म भाव का रस पान करे।

नास्वादयेत् सुख तत्र नि.सगः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकी कुर्यात्प्रयत्नतः ।।45।।
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुन. ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ।।46।।

समाधि अवस्था मे भी रसास्वादन करके अपने आप मे भोक्ता भाव जाग्रत न होने देवे तथा किसी मानसिक अवस्था को भोग्य न बनावे । यदि समाधि की एकाग्रता और नि संकल्पता मानसिक धरातल पर आ भी गई है तो समझदारी से अपने आपको असंग भाव मे विराजमान रखे । यदि निश्चल मन सस्कार वश चंचल होता है तो प्रयत्नपूर्वक एकाग्र करे ।

जब चित्त न तो अज्ञान सुपुप्ति, कारण, अव्यक्त, प्रधान आदि नाम वाले आवरण मे लय होता है और न सांसारिक भोग लिप्सा मे लिपायमान होकर विक्षिप्त होता है । एक रस निर्वातदायक लौवत् न प्रतीत होता हुआ अर्थात् विपयाकार न होता हुआ अपने मूल मे विराजमान होता है तो इसको ब्रह्म प्राप्ति कही जाती है ।

अधिष्ठान होने के नाते वैसे तो प्रत्येक मन को ब्रह्म सदा ही प्राप्त है फिर भी मन की अमनता रूप ब्रह्म स्थिति यही है ।

स्वस्थं शान्त सनिर्वाणमकथ्य सुखमुत्तमम् ।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं प्रचक्षते ।।47।।

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चन्न जायते ।।48।।

इति अद्वैताख्यं तृतीय प्रकरणम्

स्वस्थ अर्थात् अपने आप मे विराजमान, शान्त, समस्त कामनाओ की परिनिवृत्ति रूप निर्वाण उत्तम सुखस्वरूप, अज परमात्मा, अज भाव द्वारा ही जाना जाता है जिनको सर्वज्ञ कहा जाता है ।

किसी भी जीव का जन्म नहीं होता, वहीं कभी भी संसार का जन्म नहीं होता; एकमात्र सत्ता अपने आप में विराजमान है। उत्तम सत्य तो यही है जो अजन्मा है अमरण धर्मा एकरस है। कितना विचित्र सत्य जिस सत्य की महिमा सत्य नारायण अपने आप ही है।

इति गौडपादीय कारिका हिन्दी व्याख्याया तृतीय प्रकरणम्

समाप्तम्

अथ चतुर्थ आत्म शान्ति प्रकरणम्

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥1॥

आकाश सदृश ज्ञान द्वारा जो गगन सदृश समस्त धर्मों को ज्ञेय से अभिन्न (जो) जानता है वही जागा हुआ है उस मनुष्यों में श्रेष्ठ उस प्रबुद्ध को नमस्कार करते है। क्योंकि अद्वैत परम्परा इस रहस्य को रहस्य ही रखना चाहती है कि श्री गौडपादाचार्य भगवान बुद्ध से अनुप्रेरित है तो हम भी इस रहस्य को इंगित मात्र करके आगे आने वाले समय के लिए अनुसन्धानार्थ छोडते है। हमारा विश्वास तो इस विषय में स्पष्ट है भगवान बुद्ध द्वारा दृष्ट निर्वाण उपनिषदों की कैवल्य मुक्ति से कुछ विशेष अलग नही और गौडपादाचार्य का अजात वाद निर्वाण से कुछ विशेष अलग नही।

भगवान शंकराचार्य द्वारा लिखित भाष्य मे यद्यपि इस सत्य को स्वीकार नही किया गया क्योकि शंकराचार्य बौद्ध मत को भारत मे उन्मूलन करने वाले आचार्यो मे गिने जाते है यद्यपि सत्य उसके विपरीत है क्योकि शंकराचार्य की जीवनी मे बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ का कोई प्रसंग नही आता। हाँ उदयनाचार्य और कुमारिल के नाम इस विषय मे अवश्य लिये जा सकते है। वस्तुत. बौद्ध धर्म का नाश बौद्ध धर्म में प्रविष्ट भोग विलास तथा मत वाद ने किया। जिससे लोगो की श्रद्धा उनसे हट गई। साथ ही हिन्दू राजा जो आचार्य लोगो द्वारा हठ वाद की धार तथा जात्यभिमान की धार पर रख दिए गये थे उनके क्रूरतम अत्याचारों ने भी बौद्ध धर्म को हानि पहुँचाई। कई बार सारनाथ का बौद्ध मन्दिर राजाओं द्वारा तोडा गया। गया के मन्दिर जो बौद्ध गया में थे उनका विनाश किया गया। मुख्य मन्दिर के द्वार में दीवार चिनवा दी गई।

भारत भर में जहाँ तक लोगों का वश चला यह विनाश लीला सैंकड़ों साल तक चलती रही। बौद्ध ग्रन्थों की होली जलती रही तथा बौद्ध भिक्षु मौत के घाट उतारे जाते रहे यहाँ तक हाथ पैर बांधकर समुद्र की भेंट भी कितने ही भिक्षु कर दिये गए। बंगाल के पाल राजाओं द्वारा कुछ बौद्ध धर्म की रक्षा होती रही जिससे नालन्दा और विक्रम शिला की विद्या अपना प्रकाश चतुर्दिक फैलाती रही। अन्त में मुसलमानों के आक्रमणों ने पाल राजाओं की शक्ति क्षीण कर दी और खिल्जी बादशाहों के समय में नालन्दा और विक्रम शिला के विश्वविद्यालय नष्ट कर दिए गए। आज भी नालन्दा के तथा विक्रम-शिला के खण्डहर इस्लामी क्रूरता की कहानी सुना रहे हैं। आज भी त्रिपिटक के उपदेश उस वातावरण से सुने जा सकते हैं।

इतिहास बदलता रहता है सत्य नही बदलता वह न हिन्दू है न बौद्ध है न इस्लाम है और न ईसाई। हमको इस बात मे कोई हठ नही कि अमुक मत अच्छा है अमुक मत बुरा। भगवान राम, भगवान कृष्ण, भगवा बुद्ध, भगवान शकंराचार्य, भगवान महावीर हमको जितने प्रिय हैं उतने ही हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद, जुरथुस्त हजरत मूसा आदि भी उतने सम्माबीय है। ये सभी एक सत्य का प्रकाश है लेकिन इनके अनुयायी यदि परस्पर लडे झगडें और बिना एक दूसरे की बात को समझे अपनी-अपनी धांकते जायें मेरी बात सत्य है, मेरी बात सत्य है और धर्म को लेकर एक-दूसरे का खून पीने लगें तो सच-मुच हमने उन दिव्य प्रकाशों को समझा ही नहीं। हमारा उस सत्य को जो अपरोक्ष हमारा आत्मा है बुद्ध रूप मे सदा प्रणाम है जिन्हे निर्वाण रूप कहा जाता है।

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हित.।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तंनमाम्यहम् ॥2॥

हमारी बुद्धि अनादि काल से संसार के सहारे पर जीने की अभ्यासी हो गयी है, बिना सहारे जैसे हमारा व्यवहार परमार्थ सभी कुछ सूना है। चलो व्यवहार मे तो मान भी लिया जाये कि संसार मे प्रत्येक कार्य के लिए एक-दूसरे की पराश्रितता है क्योंकि अनेक साधनो से एक साध्य की सिद्धि होती है और अनेक साधन

एक व्यक्ति के पास नही है परन्तु परमार्थ मे भी यही पराश्रितता बनी रही तो परतन्त्रता से अवकाश पाने की बात भी करना व्यर्थ है।

वास्तविकता तो यह है पारमार्थिकता अपने आप मे विराजमान है जब कि व्यावहारिकता पराश्रित है। बोलने के लिए वाणी की आवश्यकता है न बोलने के लिये वाणी की आवश्यकता नही। ज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियो की, कर्मार्थ कर्मेन्द्रियो की विचार विमर्श, निश्चय, चिन्तन, अह प्रकाशनार्थ अन्त करण की आवश्यकता है, जीवनार्थ प्राण की आवश्यकता है। देहार्थ भोजन छाजन तदर्थ कर्म की आवश्यकता है परन्तु आराम सुख चैन शान्ति स्वस्थता के लिए किसी भी अपने से अलग साधन साध्य की आवश्यकता नही।

यही अस्पर्श योग अपने आप से योग है समस्त प्राणी समस्त साधको का कल्याण अपने आप ही मे है। इस अपने आप म किसी का किसी से विवाद नही, कोई किसी का विरोधी नही। जिस देशिक न परमार्थ अपन आप म अजन्मा निर्विकार रूप स बताया है अपने आप म अनुभव करके प्रकाशित किया है उस आचार्य को हमारा नमस्कार है।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिन केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीरा विवन्दत परस्परम् ॥3॥

वदान्त सिद्धान्तानुसार अजातवाद ही एक मात्र सिद्धान्त है जिस तक पहुँचने के लिए सृष्टि दृष्टिवाद, दृष्टि सृष्टिवाद एक जीववाद आदि अनेक वेदान्त वर्णित प्रक्रिया ह। अजातवादानुसार एक अजात पदाथ म समस्त प्रपञ्च भूल से भास रहा है, अन्यथा आत्मा के अतिरिक्त न कुछ था न कुछ है और न कुछ होगा। समस्त सृष्टि तथा समस्त दृष्टियाँ आरोप मात्र है।

सृष्टि प्रतिपादक वादी वृन्द दो भागो म विभाजित ह तक तो कार्य को कारण मे सत्य मानते हुए समस्त चराचर जगत का सत्य स्वीकार करके इसकी उत्पत्ति मानते है। दूसरे कार्य का कारण मे

असत्य स्वीकार करके ससार की उत्पत्ति मानते है और परस्पर एक-दूसरे से विवाद करते है।

कारण कार्य के सिद्धान्तानुसार कुछ तो ब्रह्म मे या ईश्वर मे कारणता स्वीकार करते हैं और जगत मे कार्यता स्वीकार करते हैं। दूसरे प्रकृति या अव्यक्त मे ससार की कारणता कहते है तथा विकृति रूप ससार मे कार्यता स्वीकार करते है। प्रकृति मे जगत की कारणता स्वीकार करने वाले सांख्य मतानुयायी कहते है चेतन ईश्वर से जड-जगत किस प्रकार प्रगट हो गया? कारण का स्वभाव सब कार्य मे आता है जिस प्रकार लाल रग वाले पदार्थ से खिलौना बनाया जाये तो खिलौना भी लाल बनता है इसलिए कार्य की जडता को देखकर कारण की जडता का अनुमान लगाया जाता है। साथ ही कार्य मे त्रिगुणता देखकर कारण मे त्रिगुणता अनुमान की जाती है। इससे हम त्रयगुणयुक्ता प्रकृति को जगत का कारण मानते है।

चेतन कारणवादी इस सिद्धान्त मे मे दोष दिखाते है जड प्रकृति बिना चेतन की अधिष्ठानता के बिना चेतन की इच्छा के स्वयमेव किस प्रकार विकृत होकर ससार की रचना करती है। गाय के स्तन मे दूध गाय के बछडे के प्रति वात्सल्य के कारण आता है, जड स्तन मे स्वयमेव बछडे के प्रति कोई भाव नही जिससे दूध निकलता हो। इसलिए जड प्रकृति स्वयमेव सृष्टि रूप म नही आ सकती।

प्रकृति का स्वभाव वर्णन करते हुये समत्रयगुण अवस्था वाली जड कारणरूपा प्रकृति है। इस सिद्धान्तानुसार अविकृत प्रकृति समत्रयगुणावस्था वाली प्रकृति अपना स्वभाव परित्याग करके विकृत किस प्रकार हो जाती है? त्रयगुण की समता विषमता मे किस प्रकार परिणित हो जाती है? इसी प्रकार परमाणुवाद भी अत्यन्त दूषित है। परमाणु कारणवाद परमाणु की सबसे छोटी इकाई द्विअणुक और त्रिसरेणु बनती है, किस प्रकार यह मिलन होता है? कौन है जिसके शासन मे यह सब कार्यकलाप होता है?

यदि जीवात्मा को हेतु माना जाय तो जीवात्मा अनेक हैं उनकी बनाई अनेक सृष्टि होनी चाहिए। इनका परस्पर कोई ताल-मेल

नहीं होना चाहिये तथा परस्पर सृष्टि टकरा कर नष्ट-भ्रष्ट हो जानी चाहिये। इसलिए यह सिद्धान्त अपूर्ण है। अब सर्वव्यापी परमात्मा में सृष्टि का कर्तृत्व माना जाये तो परमात्मा परिपूर्ण काम है उसको सृष्टि बनाने की आवश्यकता क्या है? सम परमात्मा विषम सृष्टि क्यों बनाता है? दयालु परमात्मा निर्दयी दुःखप्रद सृष्टि क्यों बनाता है। आनन्द स्वरूप परमात्मा सर्वज्ञ है सब कुछ जानकर भी आगे काँटे वाले बीज क्यों बोता है?

ईश्वर में कारणता मानने में उपर्युक्त दोष ज्यों के त्यों हैं प्रकृति या ईश्वर रचना स्वभाव वाले हैं तो प्रलय क्यों होती है? प्रलय स्वभाव वाले हैं तो रचना क्यों होती है? यदि दोनों स्वभाव वाले हैं तो एक अधिष्ठान में विरोधी दो गुण किस प्रकार रह सकते हैं? इस गुण को औपाधिक या माया माना जाये तो स्वसिद्धान्त विरोध और पर सिद्धान्त प्रवेशरूपी दोष होगा।

सत्कारणतावाद असत्कारणतावाद, सत्कार्य वाद और असत्कार्य वाद सभी वस्तुतः विवाद हैं अन्यथा तर्क से सम्पुष्टित करना इनका असम्भव है। आगे चलकर यथा योग्य स्थलों पर इनकी अपूर्णता दिखाई जायेगी। वैदिक अवैदिक देशीय विदेशीय अनेकानेक संसार की सृष्टि के विषय में भ्रान्ति है जिनका निराकरण करके अजातवाद की स्वाभाविक शेषसिद्ध, शुद्धरूपता आगे दिखायेंगे। अलात जिसको मशाल कहते हैं घूमने पर अपने आप में से अनेक आकृतियाँ प्रकट करती हैं परन्तु शान्त होते ही एक मात्र अपने आप रह जाती है। इसी प्रकार एक बुद्धि ही घूम-घूमकर अपने आप में अनेक जगदाकृतियों की कल्पना प्रगट कर रही है शान्त होते ही एक अपने आप अजात ज्ञान शेष रह जाता है।

ठीक इसी प्रकार अनेक वाद-विवादों की निवृत्ति पर अजात आत्मा शेष रह जाता है। यह भ्रान्ति, माया जो अनेक सिद्धान्तों के द्वारा अपने आप में कल्पना का जाल बुनती-बुनती बिना बात का बन्धन बनाकर कष्टप्रद हो रही है आँखों को चुंधिया कर कुछ का कुछ दिखा रही है। इस भ्रान्ति निवृत्त को ही अलात शान्ति कहा गया है।

भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥4॥
ख्याप्यमानमजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥5॥

सृष्टि उत्पत्तिवादियो के अनुसार दो मत परस्पर विरुद्ध माने जाते हैं एक कहता है उत्पन्न होने से पूर्व नही होती तो इस प्रकार अभूत न हुई सृष्टि उत्पन्न होती है और सत्य उत्पन्न होती है। दूसरा कहता है जब थी ही नही सत्य कहाँ से उत्पन्न हो गई इसलिए मिथ्या उत्पन्न हुई है। एक कहता है सत्य उत्पन्न हुई है, दूसरा कहता है मिथ्या उत्पन्न हुई है। इस प्रकार एक-दूसरे के खण्डन से सिद्ध हुआ सत्य वर्तमान है इसलिए उत्पन्न नही होता दोनों वादियो ने परस्पर विरोध से अजातवाद सिद्ध कर दिया है।

हम भी इनके द्वारा सिद्ध किए हुए अजातवाद का अनुमोदन करते है, उनके साथ हमारा कोई विवाद नही। इस प्रकार सबके साथ हमारी सुलह् अर्थात् अविवाद है। लडने-झगडने से केवल अशान्ति के अतिरिक्त और क्या हाथ लगता है अशान्ति तो प्रत्येक प्राणी को स्वतः बिना प्रयत्न से ही सुलभ है हम अपनी ओर से ही शस्त्र-शस्त्र फेंक देते है साथ ही सबको अपना आत्मा अनुभव करते है। हम सभी मे हमारा एक आत्मा जिसके अतिरिक्त कही कुछ नहीं है जिसमे माया मात्र सृष्टि भास रही है सदा जो निर्विकार निराकार एकरस सत्य है इसको मौन स्वरूप अनुभव करते है।

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥6॥

कितना विचित्र है वादीवृन्द का साहस ! अजन्मा जीव का जन्म सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे है। इसका अर्थ हुआ जिसका जन्म होता है उसका मरण भी होगा तो आपके सिद्धान्तानुसार अजन्मा अमृत जीव मरेगा भी ? यह किस प्रकार सम्भव है कि अजन्मा जन्मता है तथा अमृत मर जाता है ! इसलिए कृपा करके आप यह कुसाहस छोडें इस निश्चय मे सत्यता भी नही और किसी का कल्याण भी नही।

एक मात्र अजन्मा सत्ता सदा विराजमान है ज्ञान स्वरूप आनन्द स्वरूप। उसी में भ्रम से ससार और जाव भाव की मिथ्या प्रतीति हो रही है। एक में अनेकता माया रूप भ्रममात्र ही है और यही वादियो के सम्मुख समस्या बनकर खडा है किसी को भूतो से ज्ञान उत्पन्न होते हुये भास रहे है। कोई ज्ञान के अन्दर भूतो को देख रहा है तो कोई भूतो के मेल पेच मे ज्ञान उत्पन्न होता हुआ देख रहा है।

परिवर्तित होता हुआ विज्ञानमात्र ही सत्य है जिसमे संसार सदा उत्पन्न होता रहता है। अपरिवर्तित चार भूत मात्र ही सत्य है जिनके योग से चेतना प्रगट हो गई है। विज्ञान ससार के आश्रित और ससार विज्ञान के आश्रित परस्पर दोनो ही की सापेक्ष सत्यता है। अरे कुछ भी सत्य नही हमको तो आत्मा भी शून्य प्रतीत होता है। जिनको आत्मा भी शून्य प्रतीत होता है उन अनात्मा को हमारा नमस्कार है।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथा भावो न कथञ्चिद्भविष्यति ॥7॥
स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥8॥

भाई सीधी-साधी बात है अमृत कभी मर्त्य नही होता और मर्त्य कभी अमृत नही हो सकता। जो जिसका स्वभाव है उसका अन्यथा भाव कभी सम्भव नही उसका स्वभाव कभी नही बदलेगा।

स्वाभाविक अमृतत्व जिसका धर्म है वह मरण भाव को किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। जिसकी सत्ता किसी बनाने वाले के आश्रित है वह निश्चल अचल किस प्रकार रह सकेगा ?

समस्त कल्पनाये अनर्गल हैं जो इस प्रपच को अनुभव करके घडी गई है। ज्ञानेन्द्रियो पर तथा उनकी प्रकाशिक शक्तियो पर विश्वास करके दार्शनिक सभी सिद्धान्तो की कल्पना करते है। इससे आगे बढे तो मन की परिवर्तित कल्पनाओ तक पहुँच गये और मन के सस्कार जो ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो की देन है उनके अनुसार क्षणिकता ससार के प्रति सिद्धान्त निश्चय कर लिया। आप दार्शनिक अपने-आपको भी ससार मे सम्मिलित करके विचार का विषय बना लेते है

और इस रहस्य को भूल जाते है कि विचारक कभी विचार का विषय नही हो सकता ।

क्योंकि सभी सिद्धान्त असार ससार को सार मानकर घड़े गए है क्योंकि सभी सिद्धान्त अपने-आपको भूलकर घडे गए हैं इसलिए अपूर्ण है। अपने आपकी पूर्णता मे जिन्हे विश्वास नही उनसे सब कुछ अपूर्ण ही प्रगट होता है।

सासिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।
प्रकृति सेति विज्ञेया स्वभाव न जहाति या ।।9।।

चार प्रकार की प्रकृति होती है—(1) सांसिद्धिकी–साधना द्वारा सम्यक प्रकार से पायी हुई जिस प्रकार योगियो को अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है। (2) स्वाभाविकी—जिस प्रकार अग्नि की दाह-शक्ति। (3) सहजा– जिस प्रकार पक्षी उड़ने की शक्ति साथ लेकर जन्मते है। (4) अकृता—जो किसी की बनाई हुई न हो जिस प्रकार जल नीचे की ओर बहते हैं। इन चार प्रकार की प्रकृति (या अन्य भी औषधि जन्य प्रकृति भी हो सकती है) का स्वभाव कभी अन्यथा नही हो सकता।

ठीक इसी प्रकार का स्वभाव निर्विकार सत्यता अजायमानता है जो आत्मा की प्रकृति मानी जाती है। उसका स्वभाव भी अन्यथा नही हो सकता यथा आत्मा निर्विकार है इस कथन का तात्पर्य है आत्मा किसी से उत्पन्न नही होता और आत्मा से भी कुछ उत्पन्न नही होता। त्रयकालाबाध्यता ही उसकी सत्यता है आत्मा कभी भी आवृत करके निवृत्त नहीं किया जा सकता। भले माया से "बहुधा-विजयमानो" बहुत प्रकार से जन्मा हुआ सा प्रतीत होवे परन्तु फिर भी जन्म-मरण मे अत्यन्त परे है। वही आत्मा चराचर जगत रूप मे भासमान चराचर जगत जिसमे लेश मात्र नही सबका एक आत्मा है।

प्रश्न—भगवान बुद्ध ने आत्म भाव बन्धन का हेतु बताया है तथा आत्मा को खोजने पर भी शून्य पाया है आप उस आत्मा की सत्यता पर इतना बल क्यों लगा रहे हैं ?

उत्तर—भगवान बुद्ध का तात्पर्य कर्त्ता भोक्ता शरीर मात्र मे

आसक्ति वान चेतना मात्र जीवात्मा से तात्पर्य है न कि नाम रूप आधार अगम अगोचर ब्रह्म रूप आत्मा से है। आज भी आत्मा का तात्पर्य जैसा जन मानस मे बैठा हुआ है कि आत्मा आने-जाने वाला, कर्त्ता, भोक्ता, इच्छा, राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोधादि स्वभाव वाला एक देशीय देह मात्र में रहने वाला अल्पज्ञ है इस प्रकार का आत्मा और अपने आपको यही भाव मानने वाला सचमुच बन्धन युक्त नहीं है तो और क्या है ?

साथ ही इस प्रकार के धर्म जो तन, मन और प्राण इन्द्रिय गात्र संघात के धर्म हैं, इनका निरोध करने पर इन कर्मो वाला आत्मा तीन काल में ढूँढने पर भी प्राप्त नही हो सकता। कोई भी साधक उपर्युक्त आत्मा को अपनी अनिर्वचनीयता से विराजमान होकर किस प्रकार देख सकते है। भगवान बुद्ध ने भी निरोधगामिनी प्रतिपदा का सहारा लेकर जब मौन में शून्य मे अनिर्वचनीय स्थिति में अपने को पाया तो अपने को कही न देखा। समस्त विकल्पो का निरोध करके निर्विकल्प निर्वाण की प्राप्ति की। वस्तुत यह निर्वाण आत्मा ही है। जिसमे सब कुछ शान्त होकर अनिर्वचनीयता शेष रह जाती है।

शंका—आप तो बौद्ध धर्म का पुष्टिकरण करने लगे ?

समाधान—मुझे किसी धर्म से द्वेष नही न मैंने आलोचना प्रत्यालोचना की दृष्टि से कुछ कहा है बस इतना बताया है कोई भी सत्यान्वेषक सत्य प्राप्त्यर्थ साधना करेगा उसे आत्म सत्य के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नही होता जो उसका अपना स्वरूप है जिसमें समस्त बन्धनकारी मान्यतायें आरोपित है जिनका निरोध किया जा सकता है परन्तु निरोधोपलब्धि स्वरूप निरोध निवृत्ति रूप आत्मा की अवशिष्टता अवश्य है नाम चाहे कुछ रखे।

जरामरण निर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥10॥

सभी जीव स्वभाव से तो जरामरण से अत्यन्त विनिर्मुक्त है परभाव जो मायिक है उससे कुछ भी अपने आप में आयोजित कर लेवें ये उनकी नासमझी है। ये नासमझ जीव अपने आपमे जन्म-मरण

की कल्पना से, ऐसी विपर्यय बुद्धि म अपने स्वरूप से स्खलित से होकर अनहुआ कष्ट उठाते है।

शका—आप इस कष्ट को अनहुआ कहते है जबकि सबकी अनुभूति और आपकी अपनी अनुभूति भी इस कथन के विपरीत है ?

समाधान—मित्र आपका कथन वस्तुत सत्य के धरातल को छता हुआ अवश्य है परन्तु सत्य नही। सबका अनुभूति और मेरी अनुभूति कष्ट के अनुभव मे साक्षी है। यह साक्षी भाव ही सिद्ध करता है कि कष्ट विषय है और मैं उसका अनुभव करने वाला उससे अलग हूँ। जिस प्रकार घट द्रष्टा घट से अलग है इसलिए मुझ मे कष्ट नही होता।

शका—चलो आपकी युक्ति से आपमे कष्ट नही होता यह मान भी लिया जाये परन्तु आप इसको अनहुआ किस युक्ति से कह सकते है आपकी अनुभूति इसके होने मे प्रमाण है, आप मे नही कही और तो होता ही होगा ?

समाधान—ये भी भ्रम है जो भ्रामक दृष्टि के द्वारा मुझ मे आरोपित हुआ है, दृष्टि के निरोध पर यह भी कही नही यथा सुषुप्ति मे स्वप्न की भाँति जाग्रत प्रपञ्च भी सुख-दु ख प्रद-सा भी मिथ्या है।

कारण यस्य वै कार्यं कारण तस्य जायते।
जायमान कथमज भिन्न नित्य कथ चतत् ॥11॥
कारणाद्यधनन्यत्वमत कार्यमज तव ।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारण ते कथं ध्रुवम् ॥12॥

साख्य मतानुसार कारण ही कार्य रूप मे परिणित होता है। वैशेषिक शास्त्र निष्णात तच्छास्त्र निष्ठ लोग इसमे यह दोष दिखाते हैं कि कारण ही परिणित होकर कार्य रूप मे आता है। इस मान्यता का अर्थ है कारण ही विस्फोट अकुर परिणाम आदि रूप से जन्मकर कार्य बन जाता है अर्थात् कारण का जन्म होता है। भला विचारिये जो जन्म धारण करने वाला है वह कारण किस प्रकार हो सकता है। जायमान अर्थात् जन्मने वाला अज किस प्रकार हो सकता है और

कारण कार्य से भिन्न किस प्रकार किया जा सकता है ? उसे नित्य किस प्रकार कहा जा सकता है ? लोक व्यवहार में तो कहीं ऐसा नहीं देखा जाता।

और यदि कारण कार्य की एकता मानी जाये तो कार्य भी कारण की भाँति अज होगा। कार्य का जन्म लेना स्वीकार किया जाये तो कार्य से कारण की अनन्यता होने के कारण, कारण की ध्रुवता को किस प्रकार स्वीकार किया जायेगा। इसलिये साँख्य मतानुसार मान्य प्रकृति को संसार का कारण नहीं माना जा सकता।

वस्तुत: तो संसार के जन्म की खोज करने से पूर्व संसार का स्वरूप तो समझ लिया होता जब संसार की सिद्धि ही पराश्रित है अपनी सत्ता ही नहीं, सत्ता ही संसार की आत्मा से उधार ली हुई है तो उसका जन्म खोज करना मृगतृष्णा नीर की भाँति निरर्थक है।

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥13॥

कारण कार्य सिद्धान्त मे दो मत सम्मुख आते है एक तो अज से संसार का जन्म होता है और दूसरा जन्म हुआ कारण उसमे कार्य का जन्म होता है। अब विचार कीजिये अज से जन्म होता है संसार में कोई ऐसा कार्य देखने को नही मिलता जो अज हो और कार्य का जनक हो। यथा सूत से कपडा बनता है तो आप इस दृष्टान्त मे देखिए सूत स्वयमेव प्रसूत है अर्थात् रुई का कार्य है इसी प्रकार सभी कारण जन्मे हुये अर्थात् जायमान हैं कोई कारण अजन्मा नही।

यदि पैदा हुये-हुये से पैदा होना मान लिया जाये तो कारण कार्य की व्यवस्था निश्चित न की जा सकेगी। कोई भी परिभाषा कारण कार्य की निश्चित न की जा सकेगी।

शंका—आपके कथनानुसार यदि कारण कार्य परम्परा को स्वीकार न किया जाये तो इसका तात्पर्य होगा किसी पदार्थ से कुछ भी उत्पन्न होने लगेगा ? परन्तु ऐसा देखने को नहीं मिलता ?

समाधान—व्यावहारिक धरातल पर माया अर्थात् कारण कार्य का सिद्धान्त वैधानिक है तथा व्यावहारिक व्यवस्था बनी भी इसी

सिद्धान्त पर है परन्तु पारमार्थिक त्रयकालाबाध्य सत्य में यह एक भ्रम मात्र है। व्यावहारिक व्यवस्था में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु अग्नि, जल, धरा, गगन आदि अपने-अपने धर्मानुसार ही बनते है जैसा कि "सूर्य-चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" यह वेद वचन प्रमाण स्वरूप है जिसमें सूर्य चन्द्रमा आदि की व्यवस्था पूर्वकल्पानुसार बताई गई है। इस व्यवस्था का हेतु भी सकल्प स्वरूपा माया ही है।

शका—परन्तु आप तो ससार को मिथ्या कहते है ?

समाधान—स्वप्न, स्वप्न काल मे मिथ्या प्रतीत नहीं होता जाग्रत मे उसका मिथ्यात्व अनुभव किया जाता है यद्यपि स्वप्न मे कारण कार्य की परम्परा एक विधानानुसार ही कार्यकलाप मे रत होती है। इसी प्रकार जागृत स्वप्न सुषुप्ति मे मिथ्या अनुभव की गई है और आत्मा मे नि सकल्प होते ही तीनो जागृत स्वप्न सुषुप्ति अवस्था मिथ्या मायिक प्रतीति मात्र अनुभव होती है।

शका—स्वप्न मे या सुषुप्ति मे एक व्यक्तित्व मात्र को जागृत प्रपञ्च नही प्रतीत हो रहा, इसका यह तो तात्पर्य नही जगत मिथ्या है, अन्य प्राणियों के अनुभव से तो ससार सत्य है।

समाधान हमने एक व्यक्तित्व को लेकर नही कहा अपितु समस्त जीवो की त्रयअवस्था से यह अनुभव सिद्ध होता है।

शका—ऐसा समय कभी होता ही नही कि सब एक अवस्था मे एक साथआ जाते हो फिर आपने सबका अनुभव किस प्रकार कहा ?

समाधान—प्रलय, सृष्टि, सन्ध्याकाल यह तीनों अवस्थाये ईश्वर विराट और हिरण्यगर्भ इनके धारणकर्त्ता समष्टि अवस्था ही है और इनका अनुमान व्यष्टि त्रयावस्था मे होता है। शास्त्र भी इसमे प्रमाण है।

शका—क्या कभी किसी को आत्म ज्ञान होकर ससार का मिथ्यात्व सिद्ध हुआ भी है ?

समाधान—सशयवादियों को छोडकर सभी आत्मवेत्ताओ का यह प्रत्यक्ष अनुभव है।

हेतोरादि फलं येषामादिर्हेतु. फलस्य च।
हेतो फलस्य चानादि कथं तैरुपवर्ण्यते ॥14॥

कारण कार्य की व्यवस्था को मानने वालों के कथनानुसार हेतु यथा वृक्ष फल का हेतु है साथ ही इस हेतु वृक्ष से पूर्व फल की विद्यमानता है क्योंकि वृक्ष फल से उत्पन्न हुआ है। साथ ही यह भी कहा जाता है फल से पूर्व उसका हेतु वृक्ष है तो इस सिद्धान्तानुसार परस्पर वृक्ष और फल एक दूसरे का कारण है तथा एक दूसरे का कार्य भी है। इस प्रकार कारण का जन्म कार्य से और कार्य का जन्म कारण से सिद्ध हुआ। अब कोई देखे कार्य का हेतु कारण अनादि किस प्रकार बन सकेगा। कारण अनादिवादी सांख्य आदि सिद्धान्तियों द्वारा वर्णन किया हुआ कारण अनादि वादी सिद्धान्त अयुक्ति युक्त है।

शंका—कृपया आप ही बताइये कारण और कार्य में पूर्व किसका जन्म होता है ? हमको तो कारण की पूर्व उपस्थिति प्रतीत होती है ?

समाधान—तो इससे सिद्ध हुआ कारण में कार्य मिथ्या है क्योंकि कारण कार्य सदा साथ-साथ रहेंगे तभी कार्य सत्यत्व सिद्ध होगा। कार्य यदि प्रगट होने से पूर्व अपने कारण में मिथ्या है तो मिथ्या का जन्म किस प्रकार हुआ ? यदि कार्य कारण में सत्य है तो भी सत्य का जन्म किस प्रकार हो गया क्योंकि सत्य अज है ? इसलिए कारण कार्य की पूर्वापर व्यवस्था बनती ही नहीं। जब पूर्वापर व्यवस्था ही नहीं बनती तो कारण कार्य की सिद्धि किस प्रकार हो जायेगी ?

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥15॥

जिनके मतानुसार हेतु से आदि फल है और फल से पूर्व फल का हेतु, हेतु है उनके मत में पुत्र से पिता का जन्म होता है। जो वस्तुतः उनको भी मान्य नहीं। समस्त प्रपञ्च का मूल अविद्या है, अनेक रूप धारण करके आत्मा के सहारे सत्य सी प्रतीत हो रही है। यह भूल ही लोकलोकान्तरों की जननी है यही ब्रह्म में कारणारोप तथा संसार में कार्यारोप रूप में भास रही है। यही अविद्या है जो एक सम ब्रह्म में विषम संसार का अवलोकन करा रही है। इसी अविद्या के बल से बुद्धि संसार की प्रातीतिक अनेकता में कारण कार्य की परम्परा भ्रान्ति उपस्थित कर रही है।

शंका—यह भ्रान्ति ब्रह्म में आई है क्योकि उसके अतिरिक्त कोई और सत्ता तो है नही। भ्रान्ति निर्विकार ब्रह्म मे कैसे आ गई ?

समाधान—जिस प्रकार स्वप्न का दृश्य स्वप्न दृष्टा के आश्रित दिखलाई देते हुए भी स्वप्न दृष्टा को छूता तक नही उसी प्रकार जाग्रत का प्रपञ्च, ब्रह्म आश्रय दृष्टा को छूता तक नही। कैसे आ गई इसका उत्तर अपने आपकी भूल माया ही है।

शंका—माया ब्रह्म से अलग अत्यन्त बलवान है जो ब्रह्म को भी आवरित करके जगत जाल मे फँसा देती है ?

समाधान—जिस प्रकार स्वच्छ निर्मल घृत गर्म करके उबलता हुआ नीचे उतार कर छोड दिया जाये तो ठण्डा होते-होते उसके ऊपर एक झिल्ली सी आ जाती है वह झिल्ली घृतरूप होते हुए भी घृत को ढके रहती है। इसी प्रकार माया ब्रह्म रुप होते हुए भी ब्रह्म को ढक लेती है।

सम्भवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया ।
युगपत्सम्भवे यस्मादसम्बन्धो विषाणवत् ॥16॥
फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतु प्रसिद्धयति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतु फलमुत्पादयिष्यति ॥17॥

कारण और कार्य का यदि साथ-साथ जन्म मान लिया जाये तो क्योकि मिट्टी से घडा बन रहा है वर्तमान बनते समय एक हाथ घड़ा बन रहा है तो दूसरे हाथ मिट्टी मे कारणता जन्म रही है। जिस प्रकार पिता पुत्र एक साथ बनते है, माँ बेटी एक साथ जन्मती है। जब तक पुत्र नही तब तक पिता मे पितापना कहाँ है ? तथा जब तक पुत्री नही माता मे मातापना कहाँ है ? पुत्र जन्मते ही पितापना जन्मता है, पुत्री जन्मते ही मातापना जन्मता है। पुत्र पुत्री के जन्म के साथ-साथ पिता-माता पना जन्मता है। अन्यथा कार्य मे पूर्व तथा कार्योपरान्त कारण मे कारणत्व कहाँ है ?

तो फिर जब कारण कार्य एक साथ जन्मते है उनमे कारण कार्य मे क्रम किस प्रकार स्थापित करेंगे। एक साथ दोनो का जन्म होने के कारण दोनो की पूर्वापर काल व्यवस्था असम्भव है।

आपके सिद्धान्तानुसार तो कारण से कार्य उत्पन्न होता है तथा कार्य से कारण की पूर्व स्थिति परमावश्यक है। साथ ही कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है कार्य से कारण कभी उत्पन्न नहीं होता। परन्तु देखने से तो कारण कार्य साथ-साथ उत्पन्न होते हैं और कारण मे कार्य तथा कार्य से कारण उत्पन्न होता है। तो आपके सिद्धान्तानुसार अकारणत्व धर्म वाले कारण से कार्य किस प्रकार उत्पन्न होगा।

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुत।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥18॥
अशक्तिर परिज्ञानं क्रमाकोपोऽथ वा पुनः।
एवं सर्वथा बुद्धैरजाति परिदीपिता ॥19॥

श्रीमान जी यदि हेतु से फल की सिद्धि होती है और फल मे हेतु की सिद्धि होती है यथा वृक्ष से बीज की तथा बीज मे वृक्ष की तो यह सिद्धान्त आपके मतानुसार पूर्ण नही क्योंकि कारण की पूर्वरूपता का यहाँ उक्त सिद्धान्त से निषेध हो जाता है। अब आप सिद्ध करें कारण की पूर्वरूपता है कि कार्य की ?

या तो आपको इस विषय मे अशक्त मानना पड़ेगा अथवा क्रमकोप स्वीकार करना पड़ेगा। अन्त मे आपकी अनजान स्थिति मे अजाति स्वयमेव सिद्ध हो जायेगी। इस प्रकार प्रबुद्ध ज्ञानियों द्वारा अजातवाद प्रकाशित किया है।

बुद्ध शब्द पुन-पुन सादर प्रयुक्त हुआ है हो सकता है उस समय सभी दार्शनिको ने इस शब्द को अपना लिया हो परन्तु इस शब्द से पुन-पुन. बौद्ध प्रभाव की गन्ध तो अवश्य आती है साथ ही अजातवाद भी बौद्धो की मार्मिक खोज है जिसको किसी वैदिक मतानुयायी ने गौड़पादाचार्य जी से पूर्व प्रयोगशाला मे नही परखा अन्यथा भगवान बुद्ध को उस समय के दार्शनिक क्यो तृप्त न कर सके। माध्यमिक कारिका का सिद्धान्त ही माण्डूक्य कारिका मे वैदिक वेश-भूषा मे आया लगता है। कभी समय मिला तो यह रहस्य दोनों कारिकाओं का समानान्तर विवेचन करते हुए प्रबुद्ध पाठकों के सम्मुख रखा जायेगा।

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्त सदा साध्यसमो हि स ।
न हि साध्य समो हेतु सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥20॥

साधारणत कारण कार्य की पुष्टि मे बीजाङ्कुर का दृष्टान्त दिया जाता है परन्तु यह साध्यसम दृष्टान्ताभास है अर्थात इससे वादी प्रतिवादी दोनो की सम रूप से पुष्टि हो जाती है। यथा वादी का सिद्धान्त है बीज से अकुर की उत्पत्ति होती है और अकुर रूप कार्य का कारण भी है, इसलिए कारण कार्यवाद अत्यन्त सत्य है।

इसी दृष्टान्त को लेकर प्रतिवादी कहता है और बीज अकुर से पैदा होता है क्योकि आगे चलकर अकुर ही वृक्ष रूप होकर बीज उत्पन्न करता है। दूसरी बात बीज मे अकुर पूर्व अवस्थित है जो अव्यक्त हुआ हुआ बीज मे विराजमान है आगे चलकर व्यक्त हो जाता है अन्यथा भुने हुये हुये बीज से (जिसमे अकुर नष्ट हो जाता है) वृक्ष उत्पन्न क्यो नही होता? अकुर जब बीज मे पूर्वावस्थित है तो उत्पन्न क्या हुआ? दोनो की उपस्थिति एक साथ एक समय विराजमान है तो कारण कार्यता किस प्रकार सिद्ध हो गई? इस प्रकार इस दृष्टान्त से प्रतिवादी का मत भी सिद्ध होता है।

ऐसा साध्यसम हेतु अथवा हेत्वाभास साध्य की सिद्धि मे किस प्रकार कृतकार्य होगा? अजातिवाद स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। कारणकार्य मायिक भ्रान्ति है अन्यथा अज एक अद्वैत सत्ता मे माया बिना द्वैत की सिद्धि तीन काल मे नही होती। जन्ममरण बन्धन मुक्ति आदि समस्त द्वन्द सब एक स्वप्न ही है।

पूर्वापरापरिज्ञानमजाते परिदीपकम् ।
जायमानाद्धि वै धर्मात्कथ पूर्वं न गृह्यते ॥21॥

कार्य जब प्रगट हो रहा है तभी उसकी पूर्वावस्था मे कारणता कल्पी जाती है अन्यथा कारण मे कार्य की अप्रगट अचर्च्य अवस्था मे कारणता कोई भी स्वीकार नही करता। इसका अर्थ हुआ कारणकार्य का साथ साथ जन्म हुआ है। पूर्वापर का अज्ञान ही अजाति वाद का परिदीपक है। समस्त ससार भ्रान्ति के ऊपर खडा हुआ है इसकी उत्पत्यादि के ऊपर जितना जितना विचार किया जाता है उतनी ही बुद्धि की असमर्थता तथा माया की अनिर्वचनीयता प्रगट होती जाती

है।

इतना अवश्य है संसार की सिद्धि पराश्रित है, सत्ता पराश्रित है। प्रक्रिया पराश्रित है तथा परभोग्या पर प्रकाश्य संसार आत्मा के आश्रित आत्मा द्वारा प्रकाश्य आत्मा से सत्ता लेकर ही जीवित है। आत्म ज्ञान पर संसार की सत्यता का बाध हो जाता है और इसकी सत्यता आत्मा है ऐसा निश्चय हो जाता है। संसार की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करने में हमारा क्या बिगड़ता है अपनी असंग अधिष्ठानता को तो एक भी धब्बा आता नहीं।

आत्मा की पारमार्थिक सत्ता में कल्पित संसार यदि अपना स्वाँग दिखाता है तो दिखाये इस जादूगरी से मुझ परमसत्य को क्या अन्तर आता है। मैं अपने आप में सदा भरपूर हूँ मुझ में जगत स्वप्न का प्रवेश सम्भव ही नहीं। परस्पर घर्षित द्वन्द्व, परस्पर मिलित विरोधीवृत्ति परस्पर टकराते विचार, मुझ सच्चिदानन्द तक कदापि नहीं पहुँच सकते।

स्वतो या परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥22॥

वास्तविकता तो यह है न तो कोई वस्तु स्वतः उत्पन्न होती है न किसी दूसरे अपने से अतिरिक्त कारण से उत्पन्न होती है इस प्रकार कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। सत् का जन्म सम्भव ही नहीं, असत् का जन्म अत्यन्त असम्भव है असत्सत अर्थात् मिली-जुली वस्तु त्रयकाल में होती नहीं इसलिए उसका जन्म से सम्बन्ध ही नहीं। इसलिए किसी वस्तु का जन्म होता ही नहीं।

कितना विचित्र खेल है संसार की अनहुई उत्पत्ति अनहुये संसार की संसरित स्थिति तथा अत्यन्त असत् संसार की प्रलयावस्था यह माया नहीं है तो और क्या है? गरजते बादल, उमड़ते तूफान, दनदनाती हवा, सनसनाती आंधी, ऊँचे पर्वत, गहरे सागर, हरे-भरे मैदान, ऊबड़-खाबड़ पठार, मानवी चहल-पहल खोजकों के करिश्मे वैज्ञानिकों की दौड़ सभी माया भानमती का पिटारा है। भानमती का पति सीधा सादा सरल निष्कपट मौनावलोकन कर रहा है।

भानमती अपने पति देव को चक्कर में डालकर उसे पुनः-पुनः

भाग रही है। विचारा सरल वृत्ति साक्षी अपने आप मे किस प्रकार भोक्ता भाव ले आता है यह सब भानमती का ही चमत्कार है। सर्वव्यापक मे विभाग उत्पन्न करके उनम कल्पना के रग भर भर कितने जादू खडे किये है इस भानमती ने। वाह ! वाह !

हेतुर्नजायतेऽनादे फल चापि स्वभावत ।
आदिर्नविद्यते यस्य-तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥23॥

अनादि स्वभाव के कारण कारण का तो जन्म ही सम्भव ही नही और फल अपने निश्चित स्वभाव तथा कारण से असम्बद्ध रहने के कारण, कारण से जन्मता हो ये भी सम्भव नही। जिसका आदि ही नही है उसका आदिपन अर्थात् प्रारम्भ किस प्रकार सम्भव है ? अर्थात् न कारण का जन्म सम्भव है और न उसमे कारणता सम्भव है और न कारण से कार्यता का सम्बन्ध है तथा न ही कार्य प्रगटन उत्पादन ही सम्भव है।

कारण कार्य दोनो यदि अनादि है तो उनका जन्म असम्भव है और यदि दोनो सादि है तो उनका कारण कार्य भाव असम्भव है। दोनो आगे पीछे जन्मते है तो भी कारण कार्य असम्भव है क्योकि भूतकालीन अवर्तमान कारण से कार्य किस प्रकार जन्म सकता है। उन को साथ-साथ जन्मा हुआ माना जाया तो एक गाय के दो सीगो मे कारण कार्य भाव की परस्पर उपस्थिति किस प्रकार मानी जायेगी ? यदि कारण को भविष्य वृत्ति माना जाये तो वह वर्तमान के कार्य को किस प्रकार जन्म दे सकता है ? तथा यदि कार्य का भविष्य मे जन्म होगा इस प्रकार मान लिया जाये तो अवर्तमान कार्य का कारण किसी पदार्थ को किस प्रकार माना जा सकता है ? यदि कार्य को भूत मे मान कर कारण को वर्तमान मे मान लिया जाये तो वर्तमान कालीन कारण भूतकालीन कार्य को किस प्रकार जन्म देगा ?

इन तथा पूर्व वर्णित तर्कों की उपस्थिति मे कारण कार्य सिद्धात केवल मिथ्या मायिक प्रतीति मात्र है।

प्रज्ञप्ते सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशत ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥24॥

अब तक के विवेचन में कारणकार्यान्तिगर्त भौतिक धरातल तक विषयगत विवेचन हुआ है जिसमें समस्त वैदिक दार्शनिक तथा सर्वास्तिवादी और जैन सिद्धान्तो की मीमासा आ चुकी है। आगे योगाचार एवं विज्ञानवाद बौद्ध सिद्धान्तों की मीमासा की जायेगी। योगाचार मतानुसार आन्तरिक पञ्चस्कन्धात्मक आत्मा तथा वाह्य पदार्थ दोनों की सत्ता सत्य है क्योंकि बाहर के पदार्थ न हों तो अनिमित्तक कोई ज्ञान हो ही नही सकता। विज्ञानमतानुसार समस्त पदार्थ विज्ञान में ही कल्पित है। विज्ञान ही पदार्थों का रूप धारण करके संस्कारों के निमित्त से अनेक सा प्रतीत हो रहा है।

विज्ञानवाद और श्री शंकराचार्य का वेदान्त वस्तुत: एक ही मत का दो रूपों में दो परिभाषाओ के अनुसार वेद और बुद्ध उपदेशों का सहारा लेकर विवेचन है। यद्यपि शांकर-भाष्य मे तथा अनेक श्री शंकराचार्य के ग्रन्थों में विज्ञानवाद का खण्डन किया गया है परन्तु जिसने विज्ञानवाद के ग्रन्थो का अवलोकन नही किया वही उसको खण्डन मानेगा परन्तु प्रबुद्ध पाठक तो यह समझ जायेगा कि कही हमारा मत विज्ञानवाद के साथ मिश्रित न हो जाये इसलिये विज्ञानवाद का खण्डन करने का प्रयत्न किया गया है।

विज्ञानवाद के खण्डन प्रसंग मे निज भाष्य मे आचार्य प्रवर कहते हैं, "वाह्य पदार्थो की स्वतन्त्र सत्ता न मानी जाये और उनको केवल विज्ञान मात्र ही मान लिया जाये तो ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध विनष्ट होने से समस्त व्यवहार असिद्ध हो जायेगा जोकि किसी आस्तिक को स्वीकार्य नही।" साथ ही अनेक स्थानो पर जगत प्रपञ्च को मिथ्या कहते हुये स्वप्न का दृष्टान्त देते हुए कहते है, "जगत् प्रपञ्च अत्यन्त मिथ्या है केवल ज्ञान के आश्रित भास रहा है यथा स्वप्न में प्रमाता प्रमाण प्रमेय की प्रतीति एक दृष्टा के आश्रित दृष्टा मे ही दृष्टा को हो रही है उसी प्रकार जगत की प्रतीति समझनी चाहिए।"

क्या उपर्युक्त दोनों कथन एक-दूसरे के विरुद्ध नही। विज्ञानवादी भी तो स्वप्न का दृष्टान्त देकर अपना मत सिद्ध करते है। प्रकरणसम हेतु होने से क्या, दोनो हेत्वाभास न हो जायेंगे ? जब स्वप्न मे प्रमाता प्रमाण प्रमेय मिथ्या बन सकते है और इनका हेतु भी अविद्या

और सस्कार है तो विज्ञान मे ससार भास रहा है विज्ञान ही स्थूल रूप धारण करके स्फुरित हो रहा है विज्ञान से सूक्ष्म रूप धारण करके इस स्फुरण को प्रकाशित कर रहा है। क्या अन्तर आता है। अर्थात् ससार ज्ञान मे भास रहा है अविद्या और सस्कार उसके उद्दीपन के हेतु हैं। या यो भी कहा जा सकता है अविद्या और सस्कार विज्ञान का आश्रय लेकर ससार के रूप मे भास रहे है। आप इस प्रकार भी कह सकते हैं विज्ञान, अविद्या और सस्कारो के योग से अनेक ससार के रूप मे भास रहा है। और भी अनेक साम्यतायें है जिनका यथास्थान निर्देशन किया जायेगा।

विज्ञानवाद को लक्ष्य करके योगाचार मत वालो का कथन है प्रज्ञप्ति का हेतु बाह्य पदार्थ है, यदि बाहर पदार्थ स्वीकार न किये जायें तो अन्त बाह्य विज्ञान और पदार्थ दोनो नष्ट हो जायेंगे क्योंकि परस्पर सनिमित्तकता होने के कारण दोनो की दोनो से सिद्धि है।

यदि बाह्य पदार्थ मिथ्या है तो अग्नि के योग से दाह की अनुभूति क्या होती है इसलिए प्रज्ञप्ति की सत्ता बाह्य पदार्थ तन्त्र है।

चित्त न सस्पृशत्यर्थं नार्थाभास तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्तत पृथक् ॥26॥
निमित्त न सदा चित्त सस्पृशत्यध्वसु त्रिषु।
अनिमित्तो विपर्यास कथ तस्य भविष्यति ॥27॥

उपर्युक्त दो मत आपके सम्मुख विवेचित हुये योगाचार मतानुसार चित्त, चैतिक या अन्त बाह्य दोना ही सत्तायें परमार्थ सत् हैं तथा विज्ञानवादानुसार विज्ञान ही चित्त और चैत्य के रूप म भास रहा है।

इन दोना मतो के प्रति अजातवाद सिद्धान्त का कहना है चित्त अन्त, अथ बाह्य इसलिए चित्त और अर्थ का स्पर्श कदापि सम्भव नही, अर्थ तो अर्थ अर्थाभास से भी चित्त का सस्पर्श नही बनता। विज्ञानवादानुसार अर्थ है ही नही केवल विज्ञान ही है तो फिर अर्थ राहित्यता के कारण तीसरी अर्थ प्रकाशन प्रक्रिया सम्भव नही।

विपर्यय या अविद्या ससार का हेतु है इस सिद्धान्त के प्रति कहते हैं, जब चित्त ज्ञान के विपर्यय स्वरूप अविद्या का जन्म ही सम्भव

नहीं, अनिमित्तिक तो विपर्यय का भी जन्म नहीं होता।"

आगे बताने जा रहे हैं कुछ भी जन्म लेता ही नहीं।

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति पदम् ॥28॥

इसलिए भूत, भौतिक, चित्त, चैत्य किसी का जन्म नहीं होता। जो चित्त का या चैत्यादि किसी का जन्म मानते हैं वे जाति को अर्थात् जन्म को इस प्रकार देख रहे हैं जैसे आकाश में पदावलोकन करने का प्रयत्न।

जिस प्रकार गौडपादीय कारिका समस्त वैदिक मान्यताओं को ब्रह्म मे आरोपित मानती है उसी प्रकार माध्यमिक कारिका में बौद्धिक अर्थात् बौद्ध धर्म सम्बन्धी सभी कल्पनाओं को शून्य में आरोपित माना है। गौडपादीय कारिका में तो केवल जीव, जगत को अजन्मा में आरोपित माना है किन्तु माध्यमिक कारिकाओं में सभी संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय, विशेषण तथा क्रियाविशेषणों को खण्डन करके उनका मिथ्यात्व सिद्ध किया है। गौडपादीय कारिका का आश्रय जिस प्रकार अद्वैत का आजीव्य है उसी प्रकार माध्यमिक सिद्धान्त का आजीव्य माध्यमिक कारिका है।

समयानुसार गौडपादीय कारिका उत्तरकालीन होने के कारण थोड़ी निखरी हुई प्रक्रिया है जबकि माध्यमिक कारिका अस्पष्ट रूढ तथा अप्राकृत सी प्रतीत होती है। माध्यमिक कारिका पर भी अनेक टीका-टिप्पणी तथा भाष्य लिखे गए थे, कालक्रम से ऐतिहासिक क्षौर्य के कारण अधिकतर तो अनुपलब्ध है और जो भी उपलब्ध है वे भी पूर्ण नहीं। भविष्य मे खोजानुसार और भी माध्यमिक कारिका पर प्रकाश पड़ेगा तथा गौडपादीय कारिका में क्या कुछ माध्यमिक कारिका का है पता चलेगा।

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥30॥

वेदान्त शास्त्र रस सिक्त विद्वान् भली भाँति अद्वैत की प्रक्रियाओं के विज्ञाता होते हैं, वे जानते हैं केवलाद्वैत सिद्धान्तानुसार संसार अनादि सान्त है। जितने अध्यास हैं उनकी अधिष्ठान बोधोपरान्त

निवृत्ति हो जाती है जिस प्रकार रस्सी रूप अधिष्ठान में भासित सर्प की रस्सी ज्ञानोपरान्त निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार आत्मा मे कल्पित ससार की निवृत्ति (सोपाधिक होने से बाधरूप निवृत्ति) आत्म ज्ञान पर हो जाती है। ये भ्रमरूप संसार अनादि सान्त है।

परन्तु यह वेदान्त की प्रक्रिया जिज्ञासुओं को समझाने के लिए आत्मा में अध्यारोपित हैं और भी अनेक प्रक्रियायें वेदान्त मतानुसार अध्यारोपित ही मानी गई है। वास्तविकता तो ये है आत्मा के अतिरिक्त आत्मा मे और कुछ है ही नही। आत्मा मे जगत को अनादि सान्त स्वीकार कर भी ले तो जो वस्तु अनादि होगी वह सान्त कदापि न होगी वह अनन्त ही होगी और उस वस्तु की कदापि निवृत्ति न होगी।

शका—जिस प्रकार न्याय सिद्धान्तानुसार प्रागभाव अनादि सान्त है उसी प्रकार जगत भी अनादि सान्त मानने मे क्या दोष है?

उत्तर—प्रागभाव अभाव रूप है तो स्वयं निवृत्त की निवृत्ति क्या? किन्तु अविद्या और तद्भासित जगत भाव रूप है, भाव का अभाव किस प्रकार होगा? इसलिए संसार आत्मा मे आत्मा से अतिरिक्त तीन काल मे नही। आत्मा मे आत्मा ही है।

मोक्ष को वेदान्तातिरिक्त सभी दार्शनिक प्रयत्न जन्य उत्पाद्य मानते है, इस सिद्धान्त मे दोष दिखलाते हुए कहते है—आदिमान अर्थात् जो उत्पाद्य प्रयत्न साध्य होने से आदि वाला है, प्रारम्भ वाला है वह अनन्त किस प्रकार होगा? क्योंकि सादि पदार्थ अनन्त हो हीनही सकते।

शका—न्याय सिद्धान्तानुसार जिस प्रकार प्रध्वंसाभाव सादि अनन्त है, उसी प्रकार मोक्ष को सादि अनन्त मानने मे क्या दोष है?

समाधान—प्रध्वसाभाव अभाव रूप है और मोक्ष भाव रूप मानी जाती है इसलिये उक्त हेतु से मोक्ष की अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकती। वास्तविकता तो ये है, आत्मा सव मुक्त स्वरूप है जब इसमे बन्धन ही सिद्ध नहीं होता तो मोक्ष की क्या चर्चा आत्मा ही मोक्ष है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥31॥
सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥32॥

आदि अन्त में जो भाव नही है केवल बीच मे ही प्रतीत हो रहा है वह वस्तुतः वर्तमान अर्थात् मध्य मे भी नही है, चाहे माया से उसकी भले प्रतीति हो रही हो। जिस प्रकार स्वप्न के प्रपञ्च की उपस्थिति स्वप्न से पूर्व नही और स्वप्न के उत्तर भी नही इसलिए स्वप्न को मिथ्या माना जाता है।

शंका—जाग्रत के पदार्थों की सप्रयोजनता (यथा पानी से प्यास बुझती है आदि) होने से जाग्रत संसार सत्य है ?

समाधान—स्वप्न संसार सप्रयोजन होता ही है फिर भी मिथ्या है इसी प्रकार सारे आदि अन्त वाले समस्त प्रपञ्च को मिथ्या स्वीकार किया है।

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥33॥
न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥34॥

सभी वादियो प्रतिवादियो के मतानुसार स्वप्न के सभी धर्म मिथ्या है, क्योकि उनको शरीर के अन्दर ही अवलोकन किया जाता है। कण्ठ मे हिता नामक नाडी मे जब मन प्रविष्ट होता है तो मन स्वप्न की रचना करके साक्षी के ही द्वारा प्रकाशित होता है। बाल के सहस्रवे भाग के बराबर हिता नाडी मे भला इतनी बडी रचना *किस प्रकार आ सकती है ?* इतने मे सूक्ष्म देश मे समस्त भूत किस प्रकार आ सकते हैं ? इसलिए इनको मिथ्या कहा जाता है।

शका—किसी-किसी के स्थूल मतानुसार सूक्ष्म शरीर अथवा मन स्थूल शरीर से बाहर निकल कर स्वप्न मे जागृत की भाँति पदार्थों को यथार्थ अवलोकन करता है। क्या यह सिद्धान्त सत्य नही ?

समाधान—यह सिद्धान्त बिलकुल सत्य नही, क्योंकि जितने काल

मे यह स्वप्नावलोकन करता है, उतने काल मे वह उस स्थान पर नही पहुँच सकता, जितना काल उसको देखने मे लगता है वह अलग है।

शका—मन की गति अपार है, क्षण भर मे चाहे जहाँ जा सकता है ?

समाधान—चलो आपके कथनानुसार यह मान भी लिया तो भी जागने पर उन-उन पदार्थों प्राणियो आदि को नही देखता जो स्वप्न मे उसने उन-उन देशो मे देखे है। कभी-कभी तो स्वप्न मे जाग्रत से अत्यन्त विपरीत देखता है। यथा सूर्य पश्चिम मे निकल रहा है।

मित्राद्यै सह सम्मन्त्र्य सम्बुद्धो न प्रपद्यते।
गृहीत चापि यत्किञ्चित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥35॥

यदि यह स्वप्नावस्था मे देशान्तर मे गया होता और मित्रादिवर्ग के साथ इसका खान पान और वार्तालाप हुआ होता तो जागने पर उस उस देश मे उन उन मित्रो से पूछने पर इसे अवश्य रात्रिकाल का स्वप्नावस्थित सारा समाचार मिलता परन्तु ऐसा होता नही अपितु इसके विपरीत उनसे यह समाचार पूछने पर नकारात्मक उत्तर मिलता है।

इसके साथ यदि स्वप्नावस्था मे यह किसी वस्तु को प्राप्त करता है और सम्हालकर रखता है तो जागने पर उस वस्तु को अपने पास नही देखता इससे सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म शरीर, देह से निकलकर किसी अन्य देश मे नही जाता। इसी स्थूल शरीर मे ही मन का सकल्प स्वप्न और स्वप्न के प्रपच की रचना करता है तथा वह स्वप्न और स्वप्न की रचना साक्षी द्वारा प्रकाशित होती है।

उपर्युक्त अनेक युक्तियो मे सिद्ध होता है कि स्वप्न और स्वप्न का प्रपच सभी कुछ माया मात्र है। अपना स्थूल शरीर भी जो स्वप्न मे भासता है एकमात्र भ्रान्ति ही है इसके अतिरिक्त और कुछ नही।

स्वप्ने चावस्तुक काय पृथगन्यस्य दर्शनात्।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥36॥

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ।।37।।

जैसा हम पहले कह चुके है कि स्वप्न मे प्रभासित स्थूल शरीर मिथ्या है, इसी कथन की पुष्टि करते हुये कहते हैं, स्वप्न मे स्थूल शरीर वास्तविक नही क्योकि जाग्रत वाला स्थूल शरीर तो शैय्या पर पड़ा हुआ है और स्वप्न वाला स्थूल शरीर भागता, दौड़ता, कष्ट उठाता फिर रहा है। जिस प्रकार स्वप्न का शरीर मिथ्या है उसी प्रकार समस्त स्वप्न का प्रपंच मिथ्या है। स्वाप्निक समस्त प्रपंच चित्तदृश्य अवस्तुक है, ठीक इसी प्रकार स्वप्न के ग्रहण त्याग की भाँति जाग्रदावस्था का ग्रहण त्याग भी मिथ्या है।

वेदान्ततत्त्ववेत्ता इस रहस्य को भलीभाँति जानते है कि जगत आत्मा में एक मिथ्या प्रतीति मात्र है। एक अवस्था पूर्व अवस्था को मिथ्या सिद्ध करती हुई उसकी जगह पर अपने आप आ विराजमान होती है। इन दोनो अवस्थाओं में एकरस इनका अधिष्ठान प्रकाशक आत्मा सदा विराजमान है उसमे कभी कोई अन्तर नहीं आता। हम सभी एक यही आत्मा है इस अज आत्मा मे सभी कुछ अज ही है उसकी सत्यता आत्मा की सत्यता से भास रही है अन्यथा कुछ भी सत्य नही।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।
न च भूतादभूतस्य सम्भवोऽस्ति कथञ्चन ।।38।।
असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ।।39।।

आत्मातिरिक्त जितना प्रपंच भास रहा है उसका कभी भी जन्म नही होता सभी कुछ अजन्मा माना गया है। सत्य आत्मा से या सत्य प्रकृति से असत्य जगत का जन्म कभी नही हो सकता इसलिये जगत का जन्म कभी नही और जीव का भी जन्म सम्भव नही।

असत्स्वरूप जाग्रत प्रपंच का अवलोकन करके उन सस्कारो से अविद्या मे अविद्या से स्वप्न प्रपंच भासता है। असत्स्वप्न प्रपंच को स्वप्न में देखकर जागकर उसको नही देखता। जागत प्रपंच को

स्वप्न प्रपच मे मिथ्या देखता है उसी प्रकार स्वप्न प्रपंच को जाग्रत मे मिथ्या अनुभव करता है। ये दोनो अवस्था सुषुप्ति मे न भासने से मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं। इसलिये ये तीनो अवस्थाएँ व्यभिचारी होने से मिथ्या ही जाननी चाहिये। अपने स्वरूप मे इनका प्रवेश तीन काल मे नही।

एक सत्ता अपने आप मे सदा विराजमान है उस सत्ता का कभी विलोप नही होता। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, महावीर, नानक, जुरथुस्त आदि सभी महान पुरुषों के रूप मे तथा सभी जीव-जन्तु, कीट-पतग, घास-फूस पेड-पौधो के रूप मे एक सत्ता ही सदा विराजमान है।

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुत ।।40।।

कारण कार्य परम्परा पर कुठाराघात करते हुये कहते है कोई भी असत् कारण से असत कार्य का जन्म नही होता और न ही असत् कारण से सत् कार्य का जन्म होता है। सत् कारण से सत् कार्य का जन्म भी सम्भव नही तथा सत् कारण से सत् कार्य तो कभी जन्म ले ही नही सकता।

उपर्युक्त चारो कोटियाँ ही उत्पन्न होने वाले पदार्थों की हो सकती हैं। इनमे प्रथम कोटि असत् कारण से असत् कार्य तो इस प्रकार समझना चाहिये जैसे वन्ध्या पुत्र के द्वारा भविष्य सिंह मारा गया है जो अत्यन्त असम्भव है दूसरी कोटि असत् कारण से सत् कार्य भी असम्भव ही है जिस प्रकार कोई कहे मेरा जन्म नपुसक पिता और वन्ध्या माता के योग से हुआ है। चतुर्थ कोटि से पूर्व तृतीय कोटि का वर्णन करते है, "सत् कारण मे सत् कार्य का जन्म भी असम्भव है क्योकि सत् निर्विकार हाने से किसी का जनक हो ही नही सकता यथा सत् अज होने से किसी स कभी जन्मता ही नही।"

अन्तिम चतुर्थ कोटि का वर्णन करते हुये कहते हैं सत् कारण से असत् कार्य का जन्म भी कदापि सम्भव नही क्योकि असत् की सत्ता ही नही तो असत् का जन्म ही क्या ?

जैसा हम पूर्व वर्णन कर आये है माध्यमिक कारिका बौद्ध धर्म की मान्यताओं को शून्य मे सांवर्तिक मात्र मानती है और गौडपादीय कारिका वैदिक धर्म की मान्यताओं को ब्रह्म में आरोपित मानती है। माध्यमिक कारिका में शून्य को भाव अभाव के मध्य में अनिर्वचनीय माना गया है जबकि गौडपादीय कारिका ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वीकार करती है। माध्यमिक कारिका वर्णित शून्य को अभावात्मक मानकर वैदिक दार्शनिकों ने जो इस मत का खण्डन किया है वह वास्तव में शून्यवादी दर्शन के साथ अत्यन्त घोर अन्याय है।

जिस प्रकार शून्य का अभावात्मक अर्थ नासमझी है उसी प्रकार आत्मा का अर्थ जीवात्मा करना तथा इस मान्यता को बन्धन का हेतु मानना वेदान्त दर्शन के साथ अन्याय है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा का अर्थ यही समझते रहे है जैसा वेदान्तातिरिक्त अन्य वैदिक मतावलम्बी आत्मा का अर्थ करते आये है यथा—आत्मा अणु है अथवा देहमात्रवृत्तिक है, आत्मा पंच क्लेश युक्त है, आत्मा आने जाने वाला, पाप-पुण्य वाला, तदनुसार दुख-सुख भोगने वाला है आत्मा इच्छा द्वेष सुख दुख ज्ञान अज्ञान आदि धर्म वाला है। आत्मा अनेक पाशयुक्त पापादि वासना युक्त शरीर से अलग लोक लोकान्तर में जाने वाला है।

ऐसे आत्म भाव का अभिमानी सचमुच सदा ही अमुक्त है भला ऐसी आत्मा से कौन मुक्त होना न चाहेगा। भगवान बुद्ध मे लेकर आधुनिक बौद्ध विद्वानो तक का इस आत्मभाव से मुक्ति पाना ही परम साधना है।

अद्वैत वेदान्त मतानुयायी भी ब्रह्म प्राप्ति जो अपना वास्तविक स्वरूप है, इस जीव भाव को जो ब्रह्म में आरोपित है निरोध अर्थात् बाध करके नित्य प्राप्ति की प्राप्ति मानते है। तो निष्कर्षानुसार यों कहा जा सकता है बौद्धो का निर्वाण आत्मभाव की निवृत्ति है और अद्वैत मतानुसार मुक्ति ब्रह्म प्राप्ति है जो जीवात्मत्व के आरोप से ढका सा रहता है। जीवात्मत्व की भ्रान्ति की निवृत्ति होते ही ब्रह्म शेष रह जाता है।

दोनो के मतानुसार जीवात्मत्व या पञ्चस्कन्धत्व का जो क्लेश रूप है मूल अविद्या है। अविद्या से जीवात्मत्व या पञ्चस्कन्धत्व का जन्म होता है इसलिये इस विपर्यय रूप अविद्या और इसका कार्य निवृत्ति होते ही निर्वाण या ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। वेदान्तानुसार इस भ्रान्ति का अधिष्ठान ब्रह्म अथवा सर्वव्यापक आत्मा है जिसके अज्ञान से जीव जगत रूप प्रपञ्च भास रहा है और जिसके ज्ञान होने पर यह भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है।

बौद्ध मतानुसार अनिर्वचनीय शून्य का बोध होने पर समस्त प्रपञ्च का निरोध होकर निर्वाण प्राप्त हो जाता है। उत्पत्ति का निषध करते हुए माध्यमिक कारिका मे कहा गया है, "न तो पदार्थ स्वय स्वय से उत्पन्न होते है और न ही किसी दूसर अपने से अतिरिक्त से पैदा होते है और न अकारण से उत्पन्न होते है।" न ही पदार्थ असत् कारण से उत्पन्न होते है। माध्यमिक कारिकानुसार समस्त पदार्थ अनिर्वचनीय धर्म वाले है उनम वचन योग्य विशेषण कल्पित है और अनिर्वचनीयता उनके अधिष्ठान शून्य की है।

कई भ्रान्त दार्शनिक माध्यमिक कारिका को केवल वितण्डावाद मानते है जिसका तात्पर्य है सभी मतो का खण्डन करना और अपना मत सस्थापित न करना यही सब कुछ माध्यमिक कारिका मे है। वे विचारे माध्यमिक सिद्धान्त अनिवचनीयता से अत्यन्त अपरिचित हैं इसलिए उनका मन सर्व मान्यताओ के खण्डन से कतराता है दुखी होता है जिस प्रकार वेदान्त के द्वारा ईश्वर तक को आरोपित कहने से समस्त द्वैतवादियो का मन खिन्नता से भर जाता है। ठीक इसी प्रकार अनिर्वचनीयता धर्म सिद्धान्त समस्त मानसिक तथा वाणी सम्बन्धी समस्त वाग्विलास का खण्डन करन से सांसारिक व्यक्ति चकित हो जाता।

जिस प्रकार वेदान्त मान्यतानुसार कर्म और भक्ति का सोपान क्रम से ज्ञान की प्राप्ति मे सहयोग है उसी प्रकार शून्य तक पहुँचने के लिए समस्त मत मतान्तरा का उपयोग है। जिस प्रकार श्रुति भगवती की समस्त विवेचना लोक-भाषा लोक मान्यता लोक-व्यवहार का सहारा लेकर उनका फल वर्णन करती हुई उनको अध्यारोप बतला

कर साधारण जन से लेकर जिज्ञासु समुदाय तक का भला करती है उसी प्रकार भगवान बुद्ध की वाणी भी अनेक प्रकार से संसार का भला करती है।

वेदान्त मतानुसार जिस प्रकार वेद का वास्तविक अर्थ न समझ कर अनेक हिन्दू सम्प्रदाय खड़े हो गए हैं उसी प्रकार भगवान बुद्ध की वाणी के भी अनेक अर्थ करके अनेक सम्प्रदाय खड़े कर लिये गये हैं।

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथ्य स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति ॥41॥
उपलम्भात्समाचारा दस्ति वस्तु त्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजाते स्त्रसतां सदा ॥42॥

स्वप्न केवल आपके अपने ज्ञान का ही विपर्यय है यह सिद्ध करने के लिए जाग्रद्वस्था का एक दृष्टान्त देते हुए कहते है जिस प्रकार जाग्रत मे व्यक्ति के अपने अचिन्त्य विचार ही भूत के समान व्यक्ति को चिपट जाते है अर्थात् व्यक्ति अन्य द्वारा अज्ञेय मनोरथो को पकड़े रहता है। उसी प्रकार स्वप्नावस्थास्य प्रपञ्च भी अपने ज्ञान सागर मे भासमान अचिन्त्य विचारो का ही स्थूल रूप है। न कुछ पैदा होता है और न कुछ मरता है। स्वप्न के माध्यम से जाग्रत भी एक स्वप्न है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

जो जगत प्रपञ्च की वस्तु अनेकता के अस्तित्ववाद से ग्रस्त है उनको केवल उपलब्धि और आचार अर्थात् इनसे व्यवहार सिद्धि मात्र से ही उनमें सत्यता भासती है वे संसार उत्पत्तिवादी प्रबुद्ध शास्ताओ द्वारा उपदिष्ट अजाति से सदा-सदा डरते रहते हैं। उनको लगता है हमारा भोक्तृत्व तथा कर्तृत्व और भोग के साधन तथा भोग्य विषय सभी कुछ है ही नहीं तो एक झटके मे हमारा सर्वस्व स्वाहा हो गया। हाय राम ! ये वेद लोक विरुद्ध सिद्धान्त हमको किस प्रकार मान्य हो सकता है। उनको ब्रह्म गूलर का फूल प्रतीत होता है।

विष्णु और विष्णुलोक, शिव और शिव लोक, देवी और देवी

लोक, सचखण्ड और, जन्नत, हैवन सभी भ्रान्ति मात्र है यह सुनकर किसका हृदय अवरुद्ध न हो जायेगा ? परन्तु क्या किया जाये सत्य होता ही इतना कठोर है। यदि यह कहा जाये समस्त वर्ण, आश्रम, जाति, पन्थ, सम्प्रदाय और भी जितने विभेदकारी भाव हैं, कामचलाऊ पारमार्थिक रूप से मिथ्या है तो किसका अहं यह सत्य स्वीकार कर पायेगा। कौन आग बबूला न हो जायेगा किन्तु यही सत्य है तो कब तक इसे छिपाया जा सकता है। जिस पर यह सत्य हावी होता है उसके ऊपर से मानी हुई उपर्युक्त कल्पना अपने आप निवृत्त हो जाती है।

गिरोहबन्दियों ने सदा सत्य से द्रोह किया है। ये सर्वव्यापक सत्य मानसिक तथा शारीरिक समस्त मान्यताओं से सदा आवृत्त सा रहता है। व्यावहारिक अपनी-अपनी कल्पित मान्यताओं के अधीन समुदाय समाज के नियम सत्य के ऊपर सदा परदे रहे हैं। अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्धि की आकांक्षा जन्य चेष्टायें अपने सम भाव को सदा आवृत्त करके पर-द्वेष की जननी रही है। एक-एक व्यक्ति का अपरिपक्व अनुभव तथा उसके मानने वालों की सेना ने सदा सत्य को भुलाये रखा है।

युक्ति के डण्डे मार-मार कर जब तक मन को मार कर अमर नही कर दिया जायेगा तब तक सब कुछ वाणी विलोना हैं। भाँति-भाँति के मतानुसार स्वाँग धारण करके रूप तो बदला जा सकता है परन्तु मन के बिना निवृत्त हुये कुछ भी बनने-बनाने वाला नही।

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥43॥
उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥44॥

अजात वाद से डरने वाले जगत प्रपञ्च की उपलब्धि के कारण उसको सत्य मानकर अजात वाद से विरोध करते हैं और उनको शास्त्रीय मर्यादा का दोषी मानते है क्योकि कर्तृत्व रहित व्यक्ति किस प्रकार इन मर्यादाओं का पालन करायेगा या करेगा ? जिसको भोक्तृत्व का डर नही वह अशुभ कर्म से किस प्रकार बचेगा या बचायेगा ?

वर्णाश्रम के अभिमान से रहित व्यक्ति क्या उत्पथगामी होकर भ्रष्ट आचरण न करेगा हमारे समाज में दूषण का हेतु न होगा ? आदि-आदि अनेक भ्रम उनको सताते रहते हैं।

उपर्युक्त दोष आत्मवेत्ता के माथे मढे जाते है परन्तु इन सबसे बडा दोष अज्ञान का दोष जो साँसारिक मर्य्यादा की रखवाली करने वालो के सिर पर बन्धन वध जन्म-मरण बुढापा रोग आदि के रूप मे नग्न तलवार की भाँति लटकता रहता है, समझना चाहिये। साँसारिक मर्य्यादाये स्वरूप बोध की बाधक होने से उनको ज्ञान से ढीला होना ही चाहिये। यदि किसी अज्ञानी को इन मर्य्यादाओ के प्रति अत्यन्त आग्रह है तो वे उनको रखवाली करें उनसे हमारा कोई द्वेष नही नही परन्तु इनकी ही बात धर्म मानकर उलझे तो न रहे और आत्म-कल्याण के हेतु वेदान्त श्रवण से द्वेष तो न करें।

शका—ससार सभी को उपलब्ध अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का विषय है साँसारिक व्यवहार भी यथायोग्य उसमे निर्वाहित होता है फिर इस ससार को मिथ्या किस प्रकार माना जाये ?

इस शका का समाधान करते हुए कहते है भले यह ससार उप-लब्ध है, भले इससे लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है परन्तु फिर भी यह ससार सत्य नही सिद्ध किया जा सकता। जिस प्रकार माया निर्मित हाथी दिखाई भी देता है, उस पर आरोही आरोहण भी कर सकता है लेकिन फिर भी माया-हस्ती मिथ्या ही है। उसी प्रकार मूढजनो की भ्रान्त दृष्टि मे ससार अत्यन्त सत्य भासता है और उनको सासारिक भोगो का भी हेतु है फिर भी आत्मवेत्ता इसको दिवा-स्वप्न से अधिक महत्त्व कदापि नही देते।

अनेकानेक सूर्यो से देदीप्यमान ब्रह्माण्ड अनेक चन्द्रमा तारिकाओ से जगमगाता गगन, अनेक सागर, गिरि, नद नदी सरोवरो से सयुक्त धरा-धाम, ऊबड-खाबड पठार, सपाट मैदान, खिलखिलाती वाटिकाये, सहमे हुए जगलात, सरसराते उद्यान, सिकुडती तलैया, उफनते नाले, समस्त भौतिक छटा, कितना विचित्र है यह सब कुछ त्रिलोकीनाथ का स्वप्न है। सागर तल के जीवो के रूप मे नरा के धरातल

पर दौड़ते-भागते पशु-पक्षी, कीट, पतंगो के रूप मे एक व्यापक सत्य ही अपने आपको पसरा हुआ देख रहा है।

मुझे यह कहने मे थोडा भी भय या सकोच नही कि मैं पारब्रह्म परमेश्वर नकद नारायण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही समस्त चराचर जगत के नाम रूप को धारण करने वाला सत्य हूँ।

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥45॥

जन्म लेता-सा, चलता हुआ सा, अनेक वस्तु आकारों मे आकारित सा एक अज, अचल, अवस्तु, शान्त, अद्वय, विज्ञान स्वरूप ही विराजमान है।

दीखने वाला तत् देखने वाला त्वम् एक तत्त्वमसि है। पूजने वाला त्वम् पूज्य तत् एक तत्त्वमसि है, भोगने वाला त्वम् भोगा जाने वाला तत् दोनो तत्त्वमसि है, चाहने वाला त्वम् चाहा जाने वाला तत् दोनो तत्त्वमसि है। ये और वह, तथा तू तत्त्वमसि है। शत्रु, मित्र और तू तत्त्वमसि हो, द्रष्टा और द्रश्य सभी तत्त्वमसि है। किसका आना-जाना ! किसकी बन्धन मुक्ति ! किसका सम्बन्ध और कौन सम्बन्धी ! किसका अपना, किसका पराया ! किसके दुःख-सुख ! कहाँ के पाप-पुण्य। किसका जन्म-मरण सभी अयमात्मा ब्रह्म है।

किसकी जाति-पाँति, वर्ण आश्रम, मत मतान्तर ! किसके गुणागुण, भाषा, धर्म, देश ! किसकी उन्नति अवनति ! कहाँ के पीर-पैगम्बर, नबी, अवतार, ऋषि, महात्मा, मुनि सत। कहाँ के तथागत, वीर, भिक्षु-भिक्षुणी, आर्या, मुनिका। कहाँ के सतगुरु और शिष्य, कैसे स्त्री, पुरुष, बालक, जवान, बुड्ढे ! कैसे देवी-देवता, फरिश्ते, जिन्न ! कहाँ के लोकलोकान्तर, धाम गम्य और नाम ! पशु-पक्षी, कीट-पतग। कहा की चौरासी लक्ष जीव-जन्तु रूप योनि ! यह सब कुछ मेरी कल्पना का मुझ मे प्रातीतिक आभास मात्र है अन्यथा मुझ अज, अचल, अवस्तु ध्रुव आत्मा से अतिरिक्त क्या है ?

देखो-देखो माया की विचित्रता ! मुझ मे मेरी सत्ता से काल्पनिक

मुर्दा शव, दीखते दृष्टिगोचर हो रहे है। भविष्य की अनहुई आशा लतायें लहलहा रही है। अन्धेरा सूर्य के रूप मे मुझ से प्रकाश लेकर परम तेजस्वरूप प्रकाश पुन्ज बन गया है। मौन मुखर हो उठा है। अचल दौड लगा रहा है। अज ने अगणित जन्म हुए पडे हैं। अवस्तु निराकार वस्तुओ का आकार बना हुआ है। आग का गोला ठण्डा चन्द्रमा बना हुआ है। गोल मोल पृथिवी अपनी कीली पर घूम रही है और सूर्य के चारो ओर घूम रही है फिर भी सातो सागर बिखरते नही चराचर जगत फिर भी उस पर उछल-कूद कर रहा है।

देखो-देखो माया के अनहुये खेल ! स्त्री-पुरुष एक ही माँस, एक ही रक्त, एक ही मेद, एक ही मज्जा, एक ही अस्थि चर्म एक ही वीर्य, एक जैसी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, एक ही प्राण, एक ही मन परन्तु फिर भी एक-दूसरे की चाहत मे अनेक युगो से एक-दूसरे के पीछे दौड लगा रहे है। कितनी विचित्र है यह रामलीला एक से एक प्रगट हो रहा है एक ही एक को भोग रहा है, एक ही एक को जन्म दे रहा है। कितना चिकना-चुपड़ा, गोल-मोल, बीज उसी एक बीज से काँटे, पुष्प पत्र, फूल फल सब कुछ प्रगट हो रहा है।

सागर तल मे अनन्त जडी-बूटी, जीव-जन्तु, आग के गर्भ मे जल, जल की गोद मे पृथिवी, वायु की लपेट मे अग्नि और आकाश की नीरवता मे वायु! एकपाद, द्विपाद त्रयपाद, चतुपाद, अनन्तपाद और अपाद देह। एकबाहु, द्विबाहु, चतुर्बाहु अनेक बाहुदेह। ऊँचे-नीचे, मोटे-पतले, तिरछे-चपटे कितने-कितने विचित्र शरीर आदि-आदि अनहुये आश्चर्य भला मुझ आत्मा मे स्वप्न नही तो और क्या है ?

एव न जायते चित्तमेव धर्मा अजाः स्मृता ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ।।46।।

इस प्रकार चित्त और चित्त की कल्पना चैत्य जो जगत रूप मे भास रहा है। उसका जन्म तीन काल मे नही होता और तो और काल की कल्पना भी आत्मा मे और जगत की भाँति आरोपित है। चित्त के माध्यम से प्रतिबिम्ब रूप जीव वस्तुत बिम्ब रूप आत्मा ही है। उनकी अनेकता चित्त की उपाधि से है अन्यथा आत्मा सदा एक है इसलिये समस्त जीव स्वरूप से एक अज आत्मा ही है। इस भाँति

आत्मा को जानने वाला कभी भी विपर्यय बुद्धि को प्राप्त नहीं होता।

अज्ञान का अर्थ वेदान्त सिद्धान्तानुसार ज्ञान की शून्यता नहीं अपितु अल्पज्ञान या उल्टे ज्ञान जिसको विपर्यय कहा जाता है का नाम अज्ञान है। सत् मे असत् बुद्धि और असत् मे सद्बुद्धि, चेतन मे जड बुद्धि और जड मे चेतन बुद्धि, आनन्द में दुख बुद्धि, दुख मे आनन्द बुद्धि, पवित्र मे अपवित्रता की बुद्धि तथा अपवित्र मे पवित्र बुद्धि। इस चार प्रकार के उल्टे निश्चय का नाम अज्ञान या अविद्या है।

सत् आत्मा है इसको मरने वाला मानना और समस्त अनात्मा असत् है उसे अमर मानना यह विपर्यय ही है। आत्मा ज्ञान स्वरूप स्वप्रकाश्य है उसको अज्ञानी मानना परप्रकाश्य बुद्धि द्वारा प्रकाश्य मानना तथा बुद्धि जो जड है आत्मा द्वारा प्रकाश्य है उसको स्व-प्रकाश्य चेतन मानना अविद्या है। आत्मा आनन्द स्वरूप है उसको दुःख रूप मानना अज्ञान है। आत्मा परम पवित्र है उसको अपवित्र मानना, देहादि परम अपवित्र है उनको पवित्र मानना ही विपर्यय मति है।

इसी अविद्या के कारण अपने आप पर पर्दा पडकर अपने आप मे जगत भास रहा है तथा उल्टी उल्टी कल्पनाये सत्य होकर दुःख प्रद हो रही है। अजर अमर अविनाशी मैं अपने आपको मरने वाला वृद्धावस्थादि धर्म वाला विनाशी मान रहा हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने आप मे अधेरा कल्प कर भटकन अनुभव कर रहा हूँ। अपने आपको भूलकर जगत स्वप्न कितन विचित्र-विचित्र रगो से युक्त मुझे अपने आप मे अनहुआ भास रहा है।

आँख खोली तो मैंने देखा मैं तो अकेला सच्चिदानन्द परब्रह्म परमेश्वर हूँ मुझ मे कोई मेरे अतिरिक्त है ही नही। असत् जड दुख अपवित्र अनेकता सभी पलायन कर गये मैं सत्, ज्ञान, आनन्द, पवित्र, एक आत्मा, अछूता विराजमान हूँ। मुझ पर चढे हुए समस्त लेप एक अपने आपको ठीक-ठीक अनुभव करते ही निवृत्त हो गये। मैं निर्वाण, मैं वैकुण्ठ, मैं ब्रह्म सदा एकरस विराजमान हूँ। समस्त

लोक-लोकान्तर मुझ में आकर डूब गये हैं। मुझ जैसा मैं ही हूँ अपनी उपमा किससे दूँ उपमा योग्य मुझ से अतिरिक्त कुछ है ही नही। मुझ मे आना-जाना, वन्धन मुक्ति कुछ भी नही। न मैं जिज्ञासु, न मैं ज्ञानी मैं ज्ञान स्वरूप सदा ज्ञान हूँ।

मुझ इस प्रकार जानने वाले को अब विपर्यय में डालने को क्या रह गया। मै सदा भूमा सच्चिदानन्द हूं।

ऋजुवक्रादिकाभासमलात स्पन्दितं यथा ।
ग्रहण ग्राहकाभासं विज्ञान स्पन्दितं तथा ॥47॥
अस्पन्दमान मलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥48॥

जिस प्रकार मशाल को भाँति-भाँति से घुमाया जाये तो कभी सीधे कभी तिरछे कभी वृत्ताकार कभी त्रिभुजाकार कभी चतुर्भुजाकार अनेक आकार वनते हुये प्रतीत होते है। उसी प्रकार विज्ञान के स्पन्दन पर ग्राहक, ग्राह्य, ग्रहण आदि अनेक भाव प्रगट होते है।

यहाँ ध्यान देने की वात है जलती हुई मशाल की भाँति विज्ञान अर्थात् वुद्धि चिदाभास युक्त भाँति-भाँति के भावो की प्रकाशिका है। समस्त भाव विकार तथा वुद्धि सभी कुछ माया मात्र है। माया और माया का कार्य सभी कुछ माया आत्म ज्ञान से निवर्त्य है। उपर्युक्त सिद्धान्त को यदि विज्ञानवाद के परिप्रेक्ष्य मे देखा जाये तो इस कारिका का अर्थ होगा, "एक सर्व व्यापक विज्ञान अविद्या और संस्कारों के योग से भाँति-भाँति के जीव और जीवो की क्रियायें वन जाता है जब ध्यानपूर्वक एक निर्मल विज्ञान के ज्ञान से अविद्या और संस्कारो का निरोध हो जाता है तो अस्पन्दित विज्ञान निर्वाण कहलाता है।

अस्पन्दित विज्ञान वेदान्त मतानुसार ब्रह्म कहा जा सकता है और वौद्ध सिद्धान्तानुसार शून्य कहलाता है। वस्तुतः विचारने पर दोनो मे नाम मात्र का ही अन्तर है।

जैसे अस्पन्दित मशाल एकरस प्रकाशरूप न किसी से जन्मती है और न किसी को अपने से जन्म देती है ठीक वैसे ही अस्पन्दमान विज्ञान सदा एकरस मौन ज्ञानस्वरूप न किसी से जन्मता और न

किसी को अपने से जन्म देता हुआ निर्विकार अपनी महिमा में विराजमान है। आपका अनुभव इस विषय का साक्षी है। सब कुछ आपको अपने में से प्रगट होता हुआ दिखाई दे रहा है परन्तु फिर भी आप अपने में विराजमान घटने-बढने से अत्यन्त परे हैं। आप यदि घटते होते तो अब तक कभी के निवट गये होते और आप यदि बढते होते तो अपने आप से अब तक क्या नही अलग बन गये होते।

सदा एकरस नारायण समस्त विधि विधान से परे आपको कौन जन्म दे सकता है और किसका साहस है जो आप निर्विकार से जन्म ले सके। विमूढ़ व्यक्ति इस निगूढता को नही जानते और अपने अन्दर उन्नत्ति अवनति कल्पना से सदा दादग्ध्यमान रहते है। अपने आप मे जगत स्वप्न को सत्य मानकर नित्य निरन्तर अपने आपको भूलकर इसी की रखवाली करते रहना अपना परम कर्तव्य मानते हैं।

व्यर्थ का कर्मकाण्ड व्यर्थ की उपासना भांति-भांति के योग अपने आपको भुलाने के लिये कल्पते रहते हैं उनकी दृष्टि सदा मनोराज्य मात्र मे रमण करती हुई अपने आश्रय मे न टिककर मृगतृष्णा मे भटकती रहती है। अपने-पराये की कल्पना मे खोये-खोये ये समझदार बनने वाले अपने विषय मे सदा महामूढ बने रहते है।

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥49॥
न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥50॥

जब मशाल हिलती-जुलती है तो उससे बनने वाले आभास किसी और से प्रगट नही होते केवल मशाल ही उन आभासो मे भासती है उसी प्रकार माया द्वारा विज्ञान मे, जब स्पन्दन प्रतीत होता है तो समस्त प्रकार के जड-चेतनात्मक आभास किसी और से प्रगट होते प्रतीत नही होते, केवल विज्ञान ही उन आभासो के रूप मे भासता है और न कही और जगह से आकर अलात मे प्रविष्ट होते हैं न विज्ञान मे प्रविष्ट होते हैं।

उपर्युक्त विषय को स्पष्ट करते हुए कहते है, अलात के स्पन्द न पर आभासाकार न तो अलात से प्रगट होते है अर्थात् जन्मते है, और न किसी अलात से अलग पदार्थ से आकर अलात मे प्रवेश करते हैं। अलात मे अलात के अतिरिक्त और कुछ द्रव्य है ही नही जिससे स्पन्दित अलात से अलग कुछ और वन सके और न अलात मे अन्य पदार्थ का प्रवेश है जिससे आकृतियो का निर्माण हो।

उसी प्रकार स्पन्दित विज्ञान से न तो स्वय द्वारा ही संसार के आकार प्रगट होते है और न ही अपने से अलग कुछ है जिससे विज्ञान आकार उधारे लेवे, यो ही व्यर्थ कल्पना ,जागृत होकर कुछ वनता कुछ विगडता दृष्टिगोचर हो रहा है अन्यथा एक विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नही है।

एक अल्पवयस्क कुमारी कन्या ने स्वप्न देखा, "मुझसे कई वच्चे जन्मे है किसी की माँ और आगे उन वच्चो के वच्चो की दादी मैं अपने पौत्रो को खिला रही हूँ।" जागने पर उसने अनुभव किया अरे मैं तो सदा निर्विकार अकेली हूँ मुझमे माँपना, दादीपना कहाँ से आ टपका। वस यही हाल इस अनहुये ससार का है मुझमे से उसका प्रगट होना, मेरे द्वारा इसका टिकना मेरे मे विलय होना सब व्यर्थ विकल्पना है।

ठूठ से चोर निकला कितनी ही देर तक अकड कर खडा रहा फिर ठूठ मे घुस गया, रस्सी से साप निकला घण्टो तक लहराता रहा अन्त मे रस्सी मे जा मिला, मृगतृष्णा से नीर निकला वहुत समय तक वहता-वहता मृगतृष्णा मे ही जा मिला। स्वर्ण से अगूठी वाहर निकली वर्षों तक स्वर्ण को ढूढती रही अन्त मे स्वर्ण को पाकर मुक्त हो गई। मिट्टी से प्याला वाहर निकला वर्षों विचारा प्यासा, औरो की प्यास वुझाता-वुझाता मिट्टी को पाकर मुक्त हो गया। लोहे से शस्त्र वाहर निकले वर्षो तक लहुपान करते-करते लोहे को पाकर मुक्त हो गये।

वस यही है ससार की कथा, न तो यह परमात्मा से निकला न परमात्मा मे टिका और न परमात्मा मे मिला। यो आप कुछ भी सोचें, कुछ भी देखें, यह आपकी कल्पना हो सकती है परन्तु निर्विकार

सत्य सदा एकरस विराजमान है। माया से बुद्धि विलास मात्र प्रपञ्च आपको निकलता भास रहा है, ठहरता भास रहा है, लय होता भास रहा है। आंख खोलकर देखिए, आप अकेले हैं।

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पंदान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥51॥
न निर्गतास्ते विज्ञानाद्रव्यत्वाभावयोगत.।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्या सदैव ते ॥52॥

विज्ञान के स्पन्दमान होने पर जो आभास प्रतीत होते है वे विज्ञान स्पन्दन से अतिरिक्त किसी और हेतु से नही प्रगट होते। साथ ही निस्पन्द से अतिरिक्त कही अन्यत्र विज्ञान मे उनका प्रवेश देखने को नही मिलता। विज्ञान मे आकृति और उनके नामो का प्रवेश सम्भव ही नहीं।

विज्ञान से इन आकृतियो या नामो की उत्पत्ति सम्भव ही नही क्योकि विज्ञान मे आकृति और नामो के प्रगटनार्थ योग्य द्रव्य का अभाव है। इसलिये कार्य कारणता के सम्बन्ध मे इन भावो की व्याख्या मन से भी सम्भव नही। ये भाव अचिन्त्य माया मात्र हैं।

अब तक भगवान बुद्ध का मौन अस्पष्टवाद लोगों की समझ मे बिल्कुल नही आया, अपितु ये वादी वृन्द भगवान बुद्ध के अति प्रश्नो की अनुत्तरता को उनका अज्ञान मानते रहे तथा उनकी खिल्ली उडाते रहे परन्तु जब विचार करते-करते अविचार अपने आप ही आ विराजमान हुआ और सारा ज्ञानाभिमान अज्ञान अनुभव किया गया तो यथार्थता समझ मे आई।

अद्वैतवाद के आचार्य शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी अन्य गद्दी धारी शंकराचार्य इस सत्य को कब तक छिपाये रख सकते है, "उनका सिद्धान्त जिस ग्रन्थ से जन्मा है वह गौडपादीय कारिका माध्यमिक कारिका का वैदकीकरण है।"

भगवान बुद्ध ने अति प्रश्न पूछने पर मौन धारण इसलिये ही किया क्योकि उत्तर देने पर सारे उत्तर अधूरे और अपूर्ण होते और उनमे जिज्ञासु बहक जाते, जबकि कितने ही बुद्धानुभावी इस मौन

का भी अर्थ ठीक-ठीक न समझ सके। उन्होंने भी इस मौन का अर्थ उल्टा ही लगा डाला।

अब थोड़ा अद्वैतवाद की गहनता पर विचार कीजिये अविद्या और उसका कार्य अनिर्वचनीय है। न इसे सत्य कहा जा सकता है और न ही असत्य कहा जा सकता है। न माया को अर्थात् अविद्या और इसके कार्य को सत्य से भिन्न कहा जा सकता है और न ही अभिन्न माना जा सकता है। वस्तुतः माया अनिर्वचनीय है। इसका अर्थ हुआ माया क्या है? यह प्रश्न अति प्रश्न है इसके पूछने वालो उसका उत्तर मौन ही दिया जा सकता है।

ब्रह्म क्या है? इसका उत्तर केनोपनिषद मे दिया गया है "यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद स" ब्रह्म के विषय मे जिसका अमत है वही उसे जानता है। जिसका यह मत है मै जानता हूँ वह नही जानता। इस ब्रह्म ज्ञान का तात्पर्य क्या है। ब्रह्म के विषय मे पूछना अति प्रश्न है इसका उत्तर मौन नही तो और क्या है? क्योकि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। अब और क्या शेष रहा जिसका उत्तर मौन नही है?

शंका—किन्तु आप सत्य को तोड-मरोड कर उपस्थित करते है। अन्यथा समस्त उपनिषदे ब्रह्म की जिज्ञासा और उसके उत्तर से भरी पड़ी है?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है परन्तु हमारा कथन भी यथार्थ है।

शंका— हमारा आपका दोनो का कथन यथार्थ है यह किस प्रकार? फिर हमारी शंका ही क्या रही?

समाधान—वेदान्त शास्त्र भी यही से प्रारम्भ हुआ है—"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" और समस्त उपनिषद् भी लगभग इसी प्रश्न को उठा कर हल करती है परन्तु अन्त मे उत्तर हमारे वाला ही देती है अनिर्वचनीय।

शंका—क्यो थोड़ा वेदान्त शास्त्र के अगले सूत्र देखिए—"जन्माद्यस्य यत." "शास्त्र योनित्वात्" तत्तु समन्वयात्"। इन सूत्रो का अर्थ है। जिससे संसार का जन्म होता है, जिसमे ससार स्थित है

और जिसमे ससार लय होता है वह ब्रह्म है। समस्त वेद उसी से प्रगट हुए हैं, समस्त वेदों का ज्ञेय विषय ब्रह्म ही है। समस्त उपनिषदों अर्थात् वेदान्त श्रुतियों का समन्वय ब्रह्म मे ही है। तो बताइये इतना स्पष्ट कह देने पर भी आप ब्रह्म जिज्ञासा का उत्तर मौन अनिर्वचनीय क्यों कहते है ?

समाधान—"अध्यारोपापवादाभ्या निष्प्रपञ्च प्रपञ्चते।" अर्थात् जिज्ञासुओ को समझाने के लिए निष्प्रपञ्च ब्रह्म मे जगत का अध्यारोप करके बाद मे उसका अपवाद करना केवल मान्यतामात्र है। अब बताइये अध्यारोप अपवाद के उपरान्त क्या शेष रहा। निर्विशेष ब्रह्म निरुपधिक ब्रह्म मौन नही तो और क्या है ?

शका—आप आखिर चाहते ही क्या है ? बौद्ध धर्म को भारत वर्ष म फिर से वापिस लाना चाहते हैं, जिसको शकराचार्य जी ने युक्ति के डण्डे मार-मार कर बाहर निकाल दिया।

उत्तर—हमारा तात्पर्य न किसी धर्म को वापिस लाना है और न किसी धर्म को डडे मार-मार कर खदेडना है केवल सत्य प्रकाशन करना है। भगवान बुद्ध ने कुछ नया नही दिया वही उपनिषदो का सत्य ही अपनी एकाग्र स्वच्छ प्रज्ञा से अनुभव किया। वही सत्य नागार्जुन द्वारा उद्घाटित हुआ-हुआ गौडपादीय कारिका के रूप मे आचार्य शकर को उपलब्ध हुआ। जो कुछ परस्पर बीच मे टकराव हुआ वह मान्यताओ धारणाओ तथा अह का टकराव मात्र है। जिस प्रकार काला घडा और पीला घडा दोनो के टकराने पर रोगन उतर कर एक मिट्टी निकली या एक आकाश निकला। उसी प्रकार ससार के मत-मतान्तर टकराते रहते है परन्तु सत्य सभी मे एकरस विराजमान है और वह मौन है। मुखर होने पर विचार और वाणी की उपाधि से अनेक प्रतीत होता है।

शका—तो क्या आपको सनातन धर्म की प्रणालियों से अच्छी बौद्ध धर्म की प्रणाली प्रतीत होती है ? क्या सनातन धर्म की गाथाओं से बौद्ध धर्म की साधना ऊँची जँचती है ?

समाधान—सनातन धर्म से आप बौद्ध धर्म को अलग किस प्रकार कर सकते है ? जैन, सिख, कबीर पंथी, राधा स्वामी, आर्य-समाजी कोई भी तो सनातन धर्म से अलग नही। सनातन धर्म मे तो सारे धर्म समा जाते है। इस रहस्य को समझने के लिये आप हमारी स्वलिखित "सनातन धर्म प्रवोधिका" पुस्तक पढें।

शंका आपका कथन विचित्र है ? समाधान—तभी तो कह रहे हैं जो कहा जा चुका है उसमें कुछ विचित्रता न उपस्थित हुई तो क्या कहना।

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥53॥

यह सदैव का नियम है द्रव्य का हेतु द्रव्य होना चाहिये। साथ ही द्रव्य से हेतु अन्य अर्थात् दूसरा होना चाहिए। परन्तु आत्मा मे न तो द्रव्यत्व है क्योकि आत्मा निर्गुण निर्विशेप है और न अन्यत्व है क्योकि आत्मा सर्वव्यापक है इसलिये आत्मा किसी का कारण नही। कारण कार्य भाव का बीज भी आत्मा मे नही।

जगत का इससे जन्मना जगत का इसमें टिकना और जगत का आत्मा में लय होना केवल मात्र वन्ध्या के पुत्रो की कल्पित कहानी है जो बालको को तुष्ट करने के लिये सुनाई जाती है। जगत स्वप्न अपने आप की भूल पर खड़ा हुआ है, अपने आपको समझते ही इसकी कल्पितता क्षण भर में समझ आ जाती है।

शंका—आपके कथनानुसार जगत है ही नही तो ईश्वर जो जगत का बनाने वाला कहा जाता है, पालने वाला कहा जाता है और नष्ट करने वाला कहा जाता है उसकी भी सत्ता असिद्ध हो जाती है ? जीव की सत्ता भी सिद्ध नही हो सकती इसका तात्पर्य है कि कुछ भी नही, इससे तो शून्य का प्रसंग आ जायेगा ?

समाधान—आप तो इतने भयभीत हो गये कि बस पूछिये ही नही। सत्ता सदा अपने में विराजमान अपने से कभी अलग होती ही नही ऐसा आत्मा सचमुच ईश्वर है उस स्वयं सिद्धि स्वरूप की क्या असिद्धि।

एव न चित्तजा धर्माश्चित्त वापि न धर्मजम् ।
एव हेतुफलाजाति प्रविशन्ति मनीषिण ॥54॥

उपर्युक्त युक्तियो के अनुसार न तो समस्त भाव पदार्थ चित्त से उत्पन्न होते हैं और न चित्त ही धर्मों से उत्पन्न होता है। समस्त युक्तियों मे सबसे प्रबल युक्ति ये है समस्त धर्म और चित्त एक साथ ही उपस्थित हुये हुये अनुभव मे आते है, चाहे आप के सम्मुख जाग्रत हो या आपके सम्मुख स्वप्न, चित्त और धर्म एक साथ ही साथ प्रगट होते है। जिस प्रकार गाय के दो सीग साथ-साथ जन्मते हैं उनमे परस्पर कारण कार्य की व्यवस्था किस प्रकार बिठाई जा सकती है। दोनो मे से एक की पूर्वकालिक और एक की उत्तरकालिक उपस्थिति हो तो कारण कार्य बने भी परन्तु दोनो की समकालिक उत्पत्ति के कारण, कारण कार्य भाव की सम्भवता ही नही।

इसी प्रकार धर्म और चित्त समकालिक प्रतीति के कारण एक दूसरे का परस्पर कारण कार्य हो ही नही सकते कारण कार्य की शृखला की अनुपस्थिति मे यह सिद्धान्त कि जगत उत्पन्न होता है और उसका कारण ब्रह्म है या प्रकृति है, या परमाणु हैं, या चित्त है, या विज्ञान है, या अकस्मात् है, आदि-आदि सब मिथ्या भ्रान्ति है। इन सबको मिथ्या अनुभव करता हुआ समस्त अजाति है ये जानता हुआ, आत्मवेत्ता अजाति मे प्रवेश कर जाता है।

अजाति भाव मे प्रवेश का अर्थ किसी वस्तु विशेष में प्रवेश नही अपितु अजाति ज्ञान का समझना मात्र है, जो आत्मा है।

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतु फलोद्भव ।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भव ॥55॥

यावद्धेतु फलावेष ससारस्तावदायत ।
क्षीणे हेतुफलावेशे ससार न प्रपद्यते ॥56॥

जब तक व्यक्ति को हेतु फल अर्थात् कारण कार्य का आवेश अर्थात् निश्चय मे कारण कार्य के सिद्धान्त की उपस्थिति है तब तक ससार की कार्यता ब्रह्म की अकारणता म कारणाभास से प्रगट होती ही रहेगी अपने आप मे ससार बना ही रहेगा। जैसे-जैसे कारण

कार्यता की मान्यता ढीली होती जायेगी वैसे-वैसे कारण मे कारणता और कारणताभास से कार्यता उत्पत्ति ढीली होती जायेगी।

इसी प्रकार कारण कार्य मान्यता का बुखार उतरते ही संसार की प्रतीति भी निवृत्त होती जायेगी और जब कारण कार्यता रूप ज्वर पूर्णरूपेण ठीक हो जायेगा तो संसार भी कही ढूंढा भी नही मिलेगा। आपकी अपनी उपस्थिति मे अनात्म ससार जबतक आप अपने को भूले हुये है तभी तक भास रहा है, ज्यो ही आपको अपनी उपस्थिति का भान हुआ त्यो ही संसार स्वप्न का बेड़ा गर्क हो जायेगा।

हे अनादि! अनन्त! तेरी कल्पना अनन्त तेरा संसार अनन्त! तू ससार का अन्त पाने चला है कितनी विचित्रता है तेरे अतिरिक्त संसार का अन्त कहां है? ससार मे संसार का अन्त नही, विचार मे ससार का अन्त नही, बुद्धि से संसार का अन्त नही। संसार का अन्त अपने आप मे है।

विचार करना ही ससार है, खोज करना ही ससार है, ध्यान करना ही ससार है, सुनना, छूना, देखना, चखना और गन्ध लेने की कामना ही ससार है। तुझ मे तेरी कल्पना का पसारा ही ससार है। अपने आपकी भूल पर खड़ा हुआ ससार अपने आपके ज्ञान पर सदा-सदा के लिये निवृत्त हो जाता है।

शका—इतने व्यवस्थित इतने सुशासित इतने नियम युक्त ससार को आप मिथ्या स्वप्न और आत्मज्ञानोपरान्त निवर्त्य कहते है आपका साहस विचित्र है?

उत्तर—हमारे सकल्प द्वारा व्यवस्थित हमारे स्वय के द्वारा सुशासित और हमारे द्वारा नियम मे रहता है ससार, इसमे ससार की क्या विचित्रता है? हमारी अपनी महिमा ही ससार के माध्यम से प्रगट हो रही सभी वेद कहता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

है स्वयं पूर्ण ये खेल पूर्ण है प्रगट से सदा पूर्ण।
ले समेट स्वयं मे स्वय पूर्ण है पूर्ण पूर्ण की प्रभा पूर्ण॥

इस मन्त्र द्वारा किसी और को नहीं आत्म देव की परिपूर्णता का ही वर्णन किया गया है जो स्वय द्रष्टा और स्वय दृश्य रूप मे विराजमान है।

शका—आप देखिये तो कही चले जाइये विज्ञान द्वारा खोजे गये प्रकृति के नियमों मे कही व्यतिक्रम नही, कितनी परिपूर्ण है नियमावली आप कैसे इस ससार को मिथ्या कहते हैं।

समाधान—आप जगत के रूप मे मुझ आत्मा को देख रहे हैं।

सद्वृत्या जायते सर्वं शास्वत नास्ति तेन वै।
सद्भावेन ह्यज सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥57॥

शका—न कोई कारण है, न कोई कार्य इसका तात्पर्य हुआ कुछ भी नही है ? कारण रूप से तो प्रकृति, परमाणु, ब्रह्म और विज्ञान का निरोध हो गया तथा कार्य रूप से जगत रूप से जीव आदि प्रपच का निषेध हो गया, तो क्या इस सिद्धान्त से उच्छेदवाद स्वयमेव सिद्ध न हो जायेगा ? आपके इस प्रयत्न मे तो आपका अपना आत्मा भी उच्छेद को प्राप्त होकर शून्य ही रह जायेगा ? जिस सिद्धान्त का खण्डन वेदान्त के आचार्य ऊहापोह से करते है ?

समाधान—हमने कारण कार्य रूप जगत का ही परमार्थ से निषेध किया है, न कि इसके आधार आत्मा का निषेध किया है। ससार की सत्ता अविद्या से प्रतीत हो रही है इसलिए शास्वत नही है परन्तु निराधार भ्रम तो नही हुआ करता इस ससार रूप भ्रान्ति का आधार आत्मा है जो इसको सत्ता दे रहा है। आत्मा के सद्भाव स इस ससार को अज कहा जाता है। आत्म सत्ता, माया के समस्त पसारे को सत्ता देती हुई विराजमान है इसलिये उच्छेदवाद का प्रसग भी नही आता।

शका—आत्मा और जगत का कारण कार्य सम्बन्ध नही है तो कौन सा सम्बन्ध है ? आप जगत के ऊपर कुछ विचार तो कीजिये, आपने जगत मे आत्मा को किस प्रकार प्राप्त कर लिया ? जबकि आत्मा का जगत से कुछ सम्बन्ध नही ?

समाधान—आपकी शका अत्यन्त समझदारी युक्त है सुनिये आत्मा

और जगत का अधिष्ठान और अध्यारोपात्मक सम्बन्ध है जिस प्रकार मृगतृष्णा में रेत और जल का सम्बन्ध है। रस्सी में भासमान सर्प और रस्सी का जो सम्बन्ध है। ठूठ में भासित पुरुष और ठूठ का जो सम्बन्ध है। स्वप्न और स्वप्न द्रष्टा का जो सम्बन्ध है। वही सम्बन्ध आत्मा और जगत का है।

शंका—वेदान्तशास्त्र सम्प्रदायानुसार ब्रह्म में जगत की कारणता मानी गई है आपका कथन इस विषय में क्या है ?

समाधान—जिज्ञासु वृन्द को सहज रूप से वेदान्त वेद्य ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान कराने के लिये ब्रह्म में जगत की कारणता का आरोप कर लिया गया है। समस्त भ्रम भासित पदार्थों का अधिष्ठान इन-इन पदार्थों का विवर्त्त कारण है, जिसमें कारण अविकृत तथा कार्य कल्पित होता है। दोनों कारण कार्य की सत्ता विवर्त्तवाद में विषम सत्ता है। जबकि अन्य कारण कार्यवाद को सम सत्ता वाला वादी वृन्द स्वीकार करते हैं।

शंका—चलो आपने इस तरह न सही उस तरह सही कारण कार्य वाद स्वीकार कर ही लिया ?

समाधान—आपको समझाने के लिये आविद्यक जगत का स्वप्नवत् कारण कार्य सम्बन्ध भी मान लिया जाये तो क्या ब्रह्म इससे विकृत हो जायेगा। जगत भ्रम निवृत्त होने पर अपने आप समझ आ जायेगा न कारण है न कार्य है। एक आत्मा सदा एकरस विराजमान है।

एक शब्द संवृत्ति फिर चौंकाने वाला आ गया है। जो माध्यमिक कारिका से उधार लिया गया प्रतीत होता है। संवृत्ति शब्द का उपयोग इसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार माध्यमिक कारिका में। समस्त सासारिक प्रपन्च की सांवतिक सत्ता और शून्य की पारमार्थिक सत्ता माध्यमिक कारिका मे भी स्वीकार की गई है। इससे कुछ मिलता-जुलता विवेचन कुन्दकुन्दाचार्य जो जैन आचार्य हुये हैं उन्होंने अपने ग्रन्थ समय सार मे किया है। व्यवहार नय और परमार्थ नय इन दोनो व्यवस्थाओं को उन्होने आत्मा की सांसारिक तथा पारमार्थिक विवेचना में प्रयुक्त किया है। संसार का निषेध

जैन शास्त्रों ने स्वीकार नहीं किया आत्मा मे से ससार प्रतीति मे निष्कासन पर उन्होंने अवश्य बल प्रदान किया है। आत्मा अनात्मा दोनों को जीव अजीव कहा है और दोनों की सत्ता सब पारमार्थिक मानी है। जगत जैन शास्त्रानुसार प्रातिभासिक नही हाँ आत्मा से इसका सम्बन्ध अवश्य आविद्यक है।

हम विषय से थोड़ा अलग चले गये ये वह भी पाठकों के बोधार्थ उपस्थिति परमावश्यक थी। हाँ तो शून्यवाद मे भी भ्रम निराधार नही अन्यथा इस जगत भ्रम को सांवृतिक न कहा जाता। शून्य की पारमार्थिक सत्ता जगत भ्रम का अधिष्ठान है जिसका ज्ञान होना परमावश्यक है जिसके ज्ञान होते ही जगत की सांवृतिक आविद्यक सत्ता का निरोध हो जाता है।

शका—बोध और निरोध मे क्या अन्तर है ?

समाधान—आत्म ज्ञान होने पर जगत का बोध हो जाता है अर्थात् जगत मे से सत्यत्व भ्रान्ति निकल जाती है और जगत भासता रहता है। पदार्थों की सत्ता आत्म सत्ता ही है यह समस्त पदार्थों का वाच्य कहलाता है। सोपाधिक भ्रम की निवृत्ति पर नाम रूप भासता भी रहता है उससे व्यवहार भी सिद्ध होता रहता है परन्तु अधिष्ठान उससे कभी आवृत्त नही होता जिस प्रकार शिला मे उत्कीर्ण शेर का शिला रूप से ज्ञान हो जाने पर भी जब तक वह शिला रहेगी शेर भासता रहेगा परन्तु उस शेर मे अब सत्यत्व नही। आत्मा मे ससार भी सोपाधिक भ्रम है, प्रारब्ध रूप उपाधि जब तक बनी हुई है तब तक मिथ्या जान लेने पर भी यह भासता रहेगा। उपाधि निवृत्ति के साथ ही यह भासमानता भी निवृत्त हो जायेगी।

निरोध, ज्ञानपूर्वक जान लेने पर भी इसकी प्रतीति का साधना से अप्रतीति भाव निरोध कहलाता है। अविद्या की निवृत्ति होते ही विज्ञान और सस्कार का परस्पर जन्य जनक भाव निवृत्त हो जाता है तदोपरान्त विज्ञान की प्रबलता से द्वादश निदान शून्य मे विलय होकर शून्य भी अनिर्वचनीय निर्वाण शेष रह जाता है।

शका—क्या वेदान्त सिद्धान्तानुसार साधना का कुछ भी मूल्य नही, केवल ज्ञान लेना ही पर्य्याप्त है ?

समाधान—समस्त साधनाओं का फल अपने आपकी ब्रह्म रूप में विराजमानता है। साध्य को प्राप्त करके साधना अपने आप निवृत्त हो जाती है, जिस प्रकार फल आने पर फूल झड़ जाते है।

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥58॥

जो कुछ भी नामरूपात्मक भाव उत्पन्न होते हुए से प्रतीत हो रहे हैं, वस्तुतः इनका जन्म अपने आप मे हुआ ही नही है। उनका जन्म केवल मायामय है। माया विचार करने पर कुछ भी सिद्ध होती ही नही इसलिए मायामय होने से समस्त प्रपञ्च मिथ्या है।

शंका—यदि यह प्रपंच मिथ्या ही है तो आप भोजन छाजन क्यो करते हैं? आप मिथ्या ससार मे व्यवहार क्यो करते हैं? आप मिथ्या शरीर को धारण क्यो करते हैं? इस तन का परित्याग क्यो नही कर देते?

उत्तर—आपको जो कुछ हमारे मे या अपने मे दिखलाई दे रहा है वस्तुत स्वप्न ही हैं। मिथ्या व्यवहार यदि हो रहा है तो भी हम सत्य का इसमे क्या बिगडता है। मिथ्या तन या मिथ्या मन इसको धारण करने का हमको आग्रह नही और इसका परित्याग करने की हमको शीघ्रता नही। हमारे अतिरिक्त कौन सी सत्ता है जो इसे धारण करेगी। यो तो विचारिये आप इसको सत्य समझकर गले से लगाये फिरते है और आपकी इससे कुछ हानि नही होती, यदि हम मिथ्या समझने वालो मे आपकी भ्रान्ति दृष्टि इसकी कल्पना करती है तो हमारा क्या बिगडने वाला है।

शंका—अनुपयोगी वस्तु को समझदार भला क्यो खीचेगा? आप इस शरीर को क्यो खीचे फिरते हैं?

समाधान—खीचे हमारी बलाय! आपको अपना और हमारा कुछ भी पता नही। कोई भी इसको प्रयत्न करके नही खीचता-फिरता अपने आप ही हमारे मे धक्के खाता-फिरता है। उपयोगी और अनुपयोगी तो तब समझें जब इसको हम कुछ समझें हम इसको कुछ समझते ही नहीं तो खीचते किसको फिर रहे हैं।

शका—जब आपका शरीर बीमार होता है तो चीखें कौन मारता है ?

समाधान—आप जानो हमको क्या पता हम तो चीखें मारते नहीं। आप यदि कहे हमको तो आप ही चीखें मारते दृष्टिगोचर होते हैं, तो कृपया अपनी दृष्टि ठीक करें यह चीख भी माया है।

शका—यदि आप इतने असग हैं तो मृत्यु के अवसर पर वचने के लिये क्यो प्रयत्न करते हैं ? बीमारी का परिचार और चिकित्सा क्यो करते हैं ?

समाधान—आप बीमारी तन मे देखते है, उसकी व्यथा मन मे देखते है तो जिनको बीमारी की व्यथा हुई है वही उसकी चिकित्सा करते है। मौत का भय शरीर को नही लगता है मन को लगता है वही यह समझता है तन के मरते पर मैं मर जाऊँगा वही तनको मरने मे बचाने का प्रयत्न करता है।

शका—मन तो जड है, उसको क्या भय ? उसको क्या दुख ? आत्मा को ही सुख दुख होना होगा ?

समाधान—धन्य हो! सुषुप्ति मे मन नहीं होता आत्मा तो होता ही है परन्तु सुख दुख तो होते नही। आत्मा के धर्म होते तो सुषुप्ति मे इनका अनुभव अवश्य होता किन्तु नही होता। जब मन जागता है तो सुख दुख भी होते है इसका तात्पर्य हुआ सुख-दुख, मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजय मन के धर्म है। राग-द्वेष, मद मात्सर्य, हर्षाहर्ष भय इत्यादि सभी मनके धर्म हैं। मन को मन की ओर से विचार किया जाये तो मन नाम की ही वस्तु कोई नही हैं परन्तु आत्मसत्ता के आधार से मन चेतनाभास जड है। इसलिये मन गतिमान तथा सकल्प-विकल्पात्मक विचार-विमर्शात्मक माना गया है। ऐसा जड नही जैसे अनुभूति रहित पत्थर होता है।

शका—यदि आत्म ज्ञानोपरान्त भी मन सुख दुख से रहित नही हुआ, इन्द्रियाँ अपने धर्म विषयोपगमन से रहित नहीं हुई तो ज्ञान का क्या लाभ है ?

समाधान—आत्मोपलब्धि पर मन के सुख दुःख क्या मन ही सुख-दुःख सहित निवृत्त हो गया, इन्द्रियों के धर्म क्या, इन्द्रियाँ ही धर्म सहित निवृत्त हो गई, प्राण, तन संसार सभी कुछ धर्मों सहित निवृत्त हो गया।

शंका—हमको तो ज्ञानी और अज्ञानी के व्यवहार मे कुछ भी अन्तर दृष्टिगत नही होता समस्त आचार-व्यवहार दोनो का सम सदृश है ?

समाधान—ज्ञानी, अज्ञानी की व्यवहारिक यान्त्रिका (मशीनरी) एक सदृश है इसलिये व्यावहारिकता मे क्या अन्तर हो सकता है केवल अन्तर निश्चय का है ज्ञानी का निश्चय आचार-व्यवहार के मिथ्यापने मे है तथा अज्ञानी का निश्चय आचार-व्यवहार के सत्यत्व मे है। फल की दृष्टि से ज्ञानी विमुक्त है और अज्ञानी बन्धा हुआ है।

शका—इस लाभ का किसी को क्या पता ?

समाधान—अपना-अपना आपको पाता है अपने निश्चय का आप ही साक्षी है। जिन पामरो की पशु दृष्टि मे अपने तन के अतिरिक्त और इन्द्रिय विषयो के अतिरिक्त और कुछ नही है उनको वैराग्ययुक्त ज्ञानमय सन्तोष का क्या पता।

शंका—आज तक कोई मुक्त हुआ भी है ?

समाधान—उल्लुओं की दुनियाँ मे आज तक भानु अवलोकित हुआ ही नही तो उससे हसो के निश्चय का मिथ्यात्व किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। जिन्होने देश काल वस्तु की सीमा से अनावृत्त आत्मा का साक्षात्कार किया है उनको बन्धन नाम की वस्तु दिखाई नही देती।

शका—सभी मुक्त आत्मा हैं तो साधना किस लिये ?

समाधान—यही समझने के लिये।

शका—आप सच-सच बताइये आप मुक्त हो जायेंगे ?

समाधान—मैं सचसच परमात्मा को साक्षी करके कहता हूँ चरा-

चर जगत मुझ सहित सब मुक्त आत्मा है। मैं अपनी आत्मा को साक्षी करके कहता हूँ मैं मुक्त आत्मा हूँ।

शका—आपको यह सब कुछ कहते हुये अह, भय और लज्जा प्रतीत न हुई।

समाधान—सत्योद्घाटन मे क्या अह क्या भय और क्या लज्जा।

यथा मायामयाद् बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुर ।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥59॥

जिस प्रकार मायामय बीज से मायामय अकुर होता है, जिस प्रकार स्वप्नस्थ पिता से स्वप्न वाला बेटा होता है जिस प्रकार जादू से बनाई स्त्री का पति जादू से निर्मित होता है। उसी प्रकार आत्मा मे कल्पित कारणता से कल्पित ससार उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मायामय बीज का अकुर न तो शाश्वत कहा जाता है और न उच्छेदी कहा जाता है उसी प्रकार समस्त धर्म माया से आत्मा मे भासने के कारण न तो शाश्वत कहे जाते है और न उच्छेदी कहे जाते है।

शका—शाश्वत क्यो नही कहे जाते ?

समाधान—क्योकि माया की निवृत्ति पर उनकी निवृत्ति हो जाती है इसलिये शाश्वत नही कहे जाते।

शका—उच्छेदी क्या नही कहे जाते ?

समाधान—आत्मसत्ता प्रदानता के कारण उच्छेदी नही कहे जाते। अर्थात् आत्मा से सत्ता लेकर उनका विनाश नही। आत्म-सत्ता से वे सब सत्तावान है।

शका—क्या सृष्टि प्रलय, जीव, कर्म, ईश्वर, न्याय, देवी-देवता, यज्ञ, स्पर्श आदि के लिये वेदान्त मे स्थान है ?

समाधान—अज्ञानावस्था मे जैसा-जैसा सकल्प फुरता है वैसा-वैसा भासता है। परमार्थ मे तो एक सत्ता के अतिरिक्त और कुछ भी नही और प्रतिभासिता मे कुछ भी भासना असम्भव नही।

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताश्वताभिधा।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥60॥

समस्त धर्म जब अज आत्मा ही है या कि सब धर्म जब जन्मे ही नही है तो उनमे शाश्वत या अशाश्वत की कल्पना किस प्रकार सम्भव है। वर्ण अर्थात् शब्द की गति भी जिसमे सम्भव ही नही तो इसमे सत् या असत् शाश्वत् या अशाश्वत विवेक किस प्रकार सम्भव है। जिस अधिष्ठान मे यह संसार रूप विकल्प खड़ा हुआ है, वह सत्ता प्रदाता अधिष्ठान तो सत है ही। जब-जब हम भासमान भ्रमोत्पन्न पदार्थ का वर्णन करने लगते है तो उसके द्वारा अनजाने ही अधिष्ठान का वर्णन होने लगता है।

इस प्रकार जगत मे चराचर पदार्थों के विवेचन द्वारा आत्मा का ही विवेचन होता है। जिस प्रकार एक आदमी ने एक कढाई खरीदी तो उसे लोहा और उसका भार पल्ले पडता है। वह यदि कहे बिना धातु और धातु के भार की कढाई चाहिये तो सबका हास्यास्पद होता है। ठीक उसी प्रकार नामरूपात्मक चराचर अनेकता के बहाने हम अपने आत्मा को ही ग्राह्य ग्राहक के रूप मे ग्रहण करते है।

शंका—दृश्यमान जगत मे चल और अचल दो प्रकार के पदार्थ हैं उनमें यदि आत्मा अचल है तो जड है। और यदि चल है तो एक-देशीय है। बताओ आत्मा क्या है?

समाधान—आपकी मान्यता से अतिरिक्त। आत्मा चल अचल दोनो शब्दो की परिभाषा मे नही आता। चेतन है परन्तु चलता नही अचल है फिर भी जड़ नही।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥61॥

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशय।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥62॥

जैसे स्वप्न मे अकेला द्रष्टा अपने आपको द्वैत रूप मे अर्थात् द्वयाभास रूप मे अवलोकन करता है इस द्वयाभास का कारण माया से चित्त का चलना मात्र है। वैसे तो चित्त और उसकी रचना दोनों

ही माया है। माया ही स्वप्न मे भोक्ता भोग्यरूप से भासती है। ठीक उसी प्रकार जाग्रत में भी माया से चित्त ही चलता हुआ जगत रूप से भासता है।

अकेला अद्वय चित्त ही स्वप्न मे दो के (ग्राहक और ग्राह्य) रूप मे भासता है, इसमे कोई संशय नही उसी प्रकार जाग्रत मे भी अकेला चित्त ही ग्राह्य ग्राहक, भोक्ता भोग्य रूप में भासता है इसमे कोई संशय नही। आपको चित्त और चैत्य की माया रूपता प्रथम ही बता चुके है। आत्मा के आश्रित सारा प्रपञ्च स्वमात्र ही है।

शका—समाज मे सामाजिक जीवन मे आपके इस ज्ञान का क्या उपयोग है?

समाधान—समाज मे समस्त पापो की जड़ एकमात्र ससार के विषयोपलब्धि द्वारा आनन्देप्टता है। यदि समाज मे अपने आपकी आनन्दस्वरूपता का प्रचार होवे तो विषयोपलब्धि द्वारा आनन्देच्छा भी ढीली हो जाये तथा विषयजयार्थ धन का लोभ भी कम हो जाये जो समस्त पापो का बाप है। अपने आप मे असगता होने मे सामाजिक जीवन भी निश्चिन्त व्यतीत होवे।

शका—क्या साधारण समाज इस ज्ञान को ग्रहण कर सकता है? ग्रहण कर भी लेवे तो क्या इसको पचा सकेगा? हम तो साधारण समाज के लिये ब्रह्म प्राप्ति आकाश पुष्प जैसे ही समझते है?

समाधान—साधारण समाज तो साधारण ही रहा है, अधिकतर तो समाज पामर समुदाय से युक्त है जिनका धर्म ईमान जैसे-तैसे धर्म-अधर्म पूर्वक ससार के विषय भोगना ही है। जिनकी दृष्टि मे परधन परस्त्री परपुरुष इत्यादि का विचार नही केवल निज इन्द्रियो की तृप्ति के लिये अमर्यादित असंयत हिंसा चोरी, लूटपाट सब कुछ सेवनीय है उनको ज्ञान से क्या लेना देना। दूसरी श्रेणी के व्यक्ति विषयी है। जो मर्यादा मे रहकर अपने अधिकार का उपभोग करते है, जिनको इस लोक या परलोक का विषय सुख अत्यन्त प्रिय है। ऐसे विषयी लोग शास्त्र द्वारा प्रतिपादित संसार की प्राप्ति के साधनो का पालन करते है। दान, पुण्य, यज्ञ, तीर्थ, व्रत करते हैं लेकिन

इनको वैराग्य नहीं होता ये अच्छे सामाजिक प्राणी उन्नति की राह पर अग्रसर है।

तीसरे श्रेणी मे जिज्ञासु आते है जो (1) विवेक (2) वैराग्य (3) शमदमादि षट् सम्पत्ति (4) मुमुक्षता इन चार साधनो से युक्त ज्ञान के अधिकारी होते हैं। अनेक जन्मो से जिन्होंने निष्काम शुभ कर्म तथा उपासना की है ऐसे इस जन्म या पिछले जन्म मे एकाग्र चित्त वाले कृत उपासक ज्ञान के अधिकारी हैं। जिनके लिये हमारा यह प्रयत्न है।

चौथी श्रेणी मे आत्मवेत्ता आते है जो यथार्थता को जानते है वे कृतकृत्य हैं उनको ज्ञान की आवश्यकता ही नही तो तृतीय श्रेणी मे गिनाये जाने वाले जिज्ञासु ज्ञान के अधिकारी हैं ही इसलिये हमारा प्रयत्न उनके काम आयेगा।

शका—साधारण समाज को इससे क्या लाभ हुआ हमारा यह प्रश्न तो हल हुआ ही नही ? व्यक्तिगत किसी एकाध को लाभ हो गया हो तो इससे क्या होता है ?

समाधान—सहस्रो पदार्थों मे एक दीपक हो तो क्या सहस्रो पदार्थों पर उस एक दीपक का उपकार नही जो सहस्रो की महिमा का प्रकाशक है। एक आदमी के हाथ मे प्रकाशिका यन्त्र है (वैट्री) तो क्या जिनके हाथ मे वह नही, उनको उसका लाभ नही। एक आत्मवेत्ता हजार अनात्म पुजारियो का प्रकाश स्तम्भ है। एक धार्मिक धनिक सहस्रो निर्धनो का सहारा है। एक दुधारू गाय सैकडो दुग्धेच्छुको का सहारा है। एक सरिता सहस्रो प्यासो की प्यास बुझाती है, एक वृक्ष सैकडो पथियो तथा पक्षियो का आश्रय है। एक नाव सहस्रो को पार उतारती है, एक सूर्य सहस्रो प्राणियो का जीवन है। उसी प्रकार एक आत्म वेत्ता पूरे समाज का आदर्श है।

शका—पामर और विषयी क्या आत्मवेत्ताओ द्वारा उन्नत किये जा सकते है ?

समाधान—जी हा उनके सत्सग से सुधरने वालो के इतिहास शास्त्रो पुराणो मे भरे पड़े है।

शका—आत्मवेत्ता तो ससार को स्वप्न समझता है, मिथ्या समझता है। उसका किसी के सुधारने मे किस प्रकार चिन्तन हो सकता है ? उसको किसी के सुधारने बिगाड़ने से क्या लेना।

समाधान—इच्छा पूर्वक गगा किसी की प्यास कभी नहीं बुझाती वह तो स्वाभाविक बहती रहती है। इच्छा पूर्वक सूर्य किसी का अन्धेरा दूर नही करता। इच्छा पूर्वक चन्द्रमा किसी को शीतलता नही देता परन्तु फिर भी प्यासो की प्यास गगा मे बुझती रहती है, चलने के इच्छुको को सूर्य से प्रकाश मिलता ही रहता है और चन्द्र-प्रभा से शीतलता अधिकारी लेते ही रहते हैं। आत्मवेत्ता भी निरिच्छ अपने आपका वर्णन करते ही रहते है और समाज लाभ उठाता रहता है।

शका—इच्छा पूर्वक क्रिया होती है ज्ञानी की यदि इच्छा ही नहीं तो उसके द्वारा तन-मन मे चेष्टा किस प्रकार होती है ?

समाधान—जिस प्रकार स्वप्न मे होती है उसी प्रकार जाग्रत मे होती है।

शका—आपको तो स्वप्न एक हथियार मिल गया है ?

समाधान—एक हथियार ही जाग्रत को प्रलय करने के लिये आवश्यक है वही बलवान हथियार हम प्रयोग करते हैं। आपके पास तो अनेक हथियार है परन्तु हमारे इस एक हथियार के सामने तुम्हारे सारे हथियार कुठित हो जाते हैं।

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥63॥

स्वप्न मे दशो दिशाओ मे स्थित चराचर जगत का विचरण करते हुये अवलोकन करता है। स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, जरायुज जीवो को जिनको जाग्रत मे अनुभव करता है उनको स्वप्न मे भी देखता है। कभी-कभी जाग्रदवस्था से स्वप्न मे व्यतिक्रम भी देखता है यथा स्वप्न मे अपना सिर कटा देखता है और आप ही बैठा रोता अपने आपको देखता है जो कि जाग्रत मे अत्यन्त असम्भव है।

इसका कारण अविद्या और जाग्रत के संसार सम्बन्धी संस्कार हैं जो स्वप्न दर्शन में हेतु है। कभी-कभी निद्रा दोष भी अविद्या और संस्कारों के साथ-साथ सम्मिलित हो जाता है। ये जाग्रदवस्था भी पूर्व-पूर्व के जाग्रदवस्थात्मक संस्कारो के कारण मायामयी अज्ञान रात्रि मे एक स्वप्न है। जिस-जिस को पूर्व शरीरो या इस शरीर मे जैसे-जैसे संस्कार पडे हैं वह वैसा जगत का अवलोकन करता है।

शंका—आपके कथनानुसार पूर्व सत्य वस्तु के संस्कार वर्तमान भ्रम में हेतु होते हैं तो इससे सिद्ध हुआ चाहे वर्तमान भासमान संस्कारो जन्य संसार स्वप्न सम मिथ्या है किन्तु जिस संसार के संस्कारों से वर्तमान संसार भ्रम भास रहा है वह संसार तो सत्य होगा ही ?

समाधान—सत्यवस्तु के संस्कारो से ही भ्रम होता हो ऐसा कोई सार्वकालिक नियम नही कभी-कभी मिथ्या वस्तु के संस्कारो से भी भ्रम होता है यथा जादूगर के दिखाये किसी भी मिथ्या वस्तु के संस्कारो से भी भ्रम हुआ करता है। केवल संस्कार मात्र होने चाहिए वस्तु चाहे सत्य हो या मिथ्या हो।

शंका—भ्रम की सामग्री मे वस्तु का सामान्य अंश का ज्ञान और विशेष अंश का अज्ञान होना परमावश्यक है परन्तु ब्रह्म मे सामान्य और विशेषपना बनता ही नही तो भ्रम कहाँ से बन गया ?

समाधान—अधिष्ठान वस्तु के सामान्य अंश का ज्ञान और विशेष अंश का अज्ञान भ्रम मे होना परमावश्यक है यह सिद्धान्त ठीक ही है। ब्रह्माधिष्ठान स्थल मे भी है पना ये पना सामान्य अंश है तथा चेतन, आनन्द, असंग, एकपना आत्माधिष्ठान के विशेष अंश हैं। यथा ये घट, ये पट है, ये स्त्री है, ये पुरुष है, ये पशु, पक्षी, कीट, पतंग, पत्थर, मिट्टी आदि हैं यहाँ ये है भ्रम काल मे भी भास रहा है तथा ये आत्मा है इसमे ये है पना ज्ञानकाल मे भी भास रहा है। तो यह तो हुआ आत्मा अधिष्ठान का सामान्य अंश। ये सब कुछ सच्चिदानन्द अद्वय अज्ञात ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म हूँ सच्चिदानन्द अद्वय साक्षी हूँ। चेतन, आनन्द, असंग, अद्वय, साक्षी ये विशेष अंश है ब्रह्माधिष्ठान

का। ज्ञानकाल मे यह प्रकाशित होता है और अज्ञानकाल मे विलुप्त रहता है।

शका—सम एकरस ब्रह्म मे सामान्य विशेष की यह कल्पना कहाँ से आ गई ?

समाधान—सभी का अनुभव आत्मा के सामान्य विशेष भावो मे साक्षी है। इसका कारण माया ही है।

स्वप्नदृक्चित्त दृश्यास्ते न विद्यन्ते तत पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेद स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥64॥

स्वप्न मे स्वप्न दृष्टा के चित्त के अतिरिक्त कुछ भी नही है, जितनादृश्य प्रपच है सभी के रूप मे स्वप्न द्रष्टा का चित्त ही परिणिति को प्राप्त हुआ-हुआ भास रहा है, या या कहिये चित्त मे चित्त सस्कारो को लेकर मिथ्या स्वप्न प्रपच अवलोकन कर रहा है।

तीनो लोक, चौदह भुवन, देवी-देवता, पशु-पक्षी, कीट-पतग, मनुष्य-स्त्री, मैं-तू ये वह सभी कुछ चित्त ही है अन्यथा अपने अकेलेपन के अतिरिक्त और कुछ भी नही है अपने आश्रित माया कहो या चित्त कहो वही सब कुछ वाला द्रष्टा के लिए दृश्य बना हुआ है। वही ईश्वर वर्ण जाति आश्रम के रूप मे भास रहा है। वही कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप से भास रहा है। यही वन्धन मुक्ति रूप से भासता है।

सारा प्रपच आत्मा के आश्रित चित्त की फुरना मात्र है, आत्मा चित्त और चित्तफुरना का प्रकाशक है। चित्त और चित्त की फुरना माया है तथा माया आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नही। इस प्रकार सब कुछ अज आत्मा ही है आत्मा ही अनेक रूपो से भास रहा है। ज्ञानवान् अपने आप से अतिरिक्त कुछ भी अवलोकन नही करता। पहाड से महान ससार को युक्ति की छलनी से कूट-कूट कर छानने पर अपने आप छानने वाले के अतिरिक्त कुछ नही शेष रहता।

चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यात्सदा ॥65॥

जाग्रच्चित्ते क्षणीमास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा यद्दृश्यमेवेदं जाग्रदश्चित्तमिष्यते ॥66॥

स्वप्न की भाँति ही जाग्रदवस्था मे दशों दिशाओं में दशों दिशाओं के प्रपञ्च को विचरण करते हुए अवलोकन करता है। अण्डज स्वेदज उद्भिज और जरायुज रूप चारों खानि जीवों को जाग्रत में स्वप्न की भाँति ही अवलोकन करता है। जाग्रत अवस्था मे चित्त ईक्षण ही जगत के रूप में भासता है, जिस प्रकार स्वप्न में भासता है। स्वप्न की भाँति ही जाग्रत मे भी चित्त ही -फुरता हुआ दृश्य बनकर भासता है।

अनादि अनन्त आत्मा में चित्त ही आदि अन्त वाले पदार्थों के रूप मे पसरकर संसार बना बैठा है सजीव निर्जीव सभी कुछ चित्त कल्पना की उपाधि से आत्मा ही अनेक रूप मे भास रहा है। अपने आपको ही अनेक रूप में अवलोकन करता हुआ मैं मेरे की कल्पना से रञ्जित राग द्वेषवान सा होकर उत्थान पतन की कल्पना में झूल रहा है।

अपने आपको चित्त दर्पण मे गुणों के अनुसार उल्टा देख-देख कर रो रहा है। अपने आपको प्रतिबिम्ब मानकर अपने आपको बँधा हुआ मानकर उबरने का प्रयत्न कर रहा है।

दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख को सजाने-धजाने में लगा हुआ है। दर्पणस्थ मुख के ऊपर श्वेत रक्तपूर्ण रोगन लगा-लगा कर मुस्करा रहा है, दर्पणस्थ निज मुख प्रतिबिम्ब के अधरों को लाली लगा-लगा कर फूला नही समाता। दर्पणस्थ निज तन को वस्त्राभूषण पहना-पहना कर आगा-पीछा झांक रहा है। कितना प्रसन्न है अपने आप की छाया पर। हुआ क्या हाथ से दर्पण गिर गया और इस बेचारे ने अपनी मृत्यु समझ कर रोना प्रारम्भ कर दिया।

अकस्मात फिर इसे दूसरा दर्पण मिल गया और इसने अपना पुनर्जन्म मानकर फिर उसको देखने से अपना प्रतिबिम्ब देखना प्रारम्भ कर दिया और फिर उस पर हाथ फिराना प्रारम्भ कर दिया। अपने आपको समझने का प्रयत्न नहीं करता यों ही छायाओं में .मैं मेरे का भाव स्थापित करके रोता गाता नाचता शोर मचाता फिरता है।

"शमा तो देनी ही नही फानूस के परवाने हैं" फानूस भी नयानी सावरिक जिसके रग मायामात्र झूँठ-मूँठ है उन्ही को देख-देख कर फूला नही समाता। इन फानूसो के गिरकर टूटने मे एक क्षण भी नहीं लगता। इन रगो को प्रकाशित करने वाले चेतन प्रकाश कभी तूने अपने आपको देखा है ? एक बार हमारे कहने से अपने आपमे अपनी दृष्टि को लगातार लगाकर देख फिर और कुछ देखने को शेष नही रह जायेगा।

उभे ह्यन्योन्य दृश्येते किं तदस्तीति चोच्यते।
लक्षणा शून्य मुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥67॥

चित्त और चैत्य, चित्त और जीव एक-दूसरे के प्रति दृश्य हैं, जिस प्रकार स्वप्न मे चित्त चैत्य हुआ करते हैं। चित्त और चैत्य दोनो ही लक्षण अर्थात् प्रमाण शून्य हैं इसलिए दोनो ही मिथ्या है। माया और माया का कार्य या चित्त और चित्त की फुरना दोनों आत्मा मे भासित होते हुये भी मिथ्या हैं।

अपने आपको निर्विकार अधिष्ठान अनुभव करने वाला चित्त के आन्तरिक और बाह्य चैत्य को विकारी देखते हुए भी सदा आनन्द मनाता है अपने आप मे निश्चित् नियति का तमाशा देखता है। नियति नटी के सूत्र से नृत्य करता हुआ तन आत्मवेत्ता की दृष्टि आँगन मे आत्मवेत्ता की प्रसन्नता का हेतु होता है। आत्म-निष्ठावान् महान पुरुष को तम मन की क्रियाओ म अत्यन्त उदासीनता रहती है। इसके लिए लाभ हानि सम उपेक्ष्य होती हैं। ससार की माया ममता का अवलोकन करके ज्ञानवान् इसकी क्रियाओ से थोडा सा भी विकार को प्राप्त नही होता।

नासमझ अपना मूल्य ससार से सदा काम मानता है तदनुसार ससारोपलब्धि के लिए अपने अपको सदा-सदा भुलाये रखता है। अपने मे उसका इतना विश्वास समाप्त हो जाता है कि ससार के पदार्थो को अपने साथ जोडे बिना अपना मूल्य ही कुछ नही समझता।

नासमझ अपने विषय मे औरो की राय को प्रमुखता देकर अपने आपको जाति पाति वर्ण आश्रम के साथ महामूढ ऐसे बाँधे रखता है

कि स्वप्न में भी औरों की कल्पना रोकर लड़ता फिरता है। उसका अपने आप में द्वैत भाव इतना प्रबल होता है कि अद्वैत की बात सुन कर उसका पारा सातवें आकाश पर जा पहुँचता है।

विमूढों द्वारा आत्मा में कल्पित मान्यताओं के प्रति ज्ञान ध्यान का लेश मात्र भी आग्रह नहीं होता। यों चाहे अपने वेश के अनुसार ज्ञानवान स्वाँग भी करे परन्तु अपने आप में उसको सत्य स्वीकार नही करता। अज्ञानी जन अपनी सभा अपना समाज अपनी मान्यता के प्रति इतने आग्रही होते है कि बस उसके अतिरिक्त उनको और कुछ सुझाई नही देता। महा मोह के द्वारा ग्रसित अविद्या पाश से बंधायमान नासमझ व्यक्ति समुदाय भव सागर में एक दूसरे के गोता खाता हुआ घूम रहा है। बड़ा छोटे को, छोटा अपने से छोटे को सटकने में पूरी तत्परता दिखा रहा है।

अनादि काल से यह कल्पना अनन्त काल तक चलती रहती है जिसका घोर अन्धेरा अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने ही नहीं देता। अन्यो के रूप मे भासने वाला अपना आत्मा ही दूसरा भासता है जिसका अपने प्रति अनहुआ राग द्वेष सदा बाधा का हेतु बना रहता है। एक महास्वप्न जाग्रत स्वप्न सुपुप्ति के रूप मे भास रहा है।

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥68॥

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥69॥

यथा निर्मित को जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥70॥

जिस प्रकार स्वप्न वाले जीव जन्मते मरते भासते हैं। जन्मते भी है मरते है क्योंकि दिखाई जो देते है जन्मते भी नही क्योंकि प्रतीतिमात्र जो है। आते जाते खाते पीते रोते धोते परस्पर सम्बन्ध जोड़ते समाज जोड़ते मरते खपते भी हैं क्योंकि उनमे ऐसा भाव प्रतीत जो होता है परन्तु वस्तुतः वे होते ही नही उनके साथ

लेप किस प्रकार चढ़ाया जाय। उसी प्रकार जाग्रत के जीव केवलमात्र जीवाभास हैं उनसे सम्बन्धित सभी कुछ कल्पना एवं नासमझी भरा पागलपन है।

यथा माया निर्मित जादूगरी द्वारा बनाये गये जीव जन्मते मरते दृष्टि आते हैं समस्त क्रियाओं से युक्त भी भासते हैं परन्तु न तो वे जन्मते हैं और न मरते हैं न कुछ कहते झगड़ते या राग द्वेष करते हैं केवल ऐसा भासता है। उसी प्रकार ये सारे जाग्रत जीव होते भी हैं और नहीं होते।

जिस प्रकार यन्त्र निर्मित मानव जन्मते मरते खाते पीते रोते धोते परस्पर सम्बन्धियों के रूप भासते हैं। शादी विवाह रचाते हुए भोग विलास करते हुए नजर आते हैं परन्तु कुछ होते ही नहीं। उसी प्रकार जाग्रत जीव हैं।

न कश्चिज्जायते जीव सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तम सत्य यत्र किञ्चिन्न जायते ॥71॥

किसी जीव का जन्म हुआ ही नहीं, जीव तो जीव अजीव का भी जन्म हुआ ही नहीं है। उत्तम सत्य तो यह है किसी का भी जन्म नहीं हुआ है।

शंका—जीव अजीव किसी का जन्म नहीं हुआ तो इसका तात्पर्य हुआ जीव अजीव सब कुछ सदा से है ? ये जीव अजीव बहुत्व सदा से है फिर अद्वैत कहाँ रहा ?

समाधान—जीव अजीव सर्व प्रपंच आत्मा में मिथ्या प्रतीति है, भ्रम से भासने वाले पदार्थ अद्वैत अधिष्ठान में कुछ अन्तर नहीं डालते, आत्मा सदा एक निर्विकार सत्य है जो भ्रम भासित प्रपंच को भी सत्ता देकर सत्य सा प्रतीत कराता है।

शंका—ज्ञान स्वरूप आत्मा में भ्रम कहाँ से आ गया ?

समाधान—यह तो हमारा सिद्धान्त है ही आत्मा भ्रम से अछूता है। आत्मा में कब और कहाँ से आ जाता है।

शंका—आपके सिद्धान्तानुसार आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव है 'मैं

अज्ञानी हूँ' इस अनुभवानुसार तो आत्मा में भ्रम आया हुआ सा लगता है ?

समाधान—यही तो हम कहते हैं आया हुआ सा प्रतीत होता है, परन्तु आता कभी नही।

शंका—आत्मा में भ्रम आया हुआ सा किसको प्रतीत होता है ? समाधान—आपको।

शंका—आपको प्रतीत नही होता क्या ?

समाधान—यही तो मैंने कहा आपको। आपमें पूर्ण भ्रम की चर्चा ही नही तो भ्रम किसको होता।

शंका—हमने वेदान्त सिद्धान्त मे यह सुना है अज्ञान आत्मा के आश्रित आत्मा को ही विषय करता है ?

समाधान—आत्मा के आश्रित कल्पित आध्यारोपित है तथा आत्मा मे कल्पित 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार से विषय करता हुआ सा भासता है।

शंका—परमात्मा तृप्त पूर्ण काम है उसको जगत बनाने की क्या आवश्यकता आ पडी ?

समाधान—आपका कथन सत्य है आत्मा पूर्ण तृप्त है उसने जगत बनाया ही कब है, हमने पूरा बल लगाकर जगत के बनने का खण्डन किया है।

शंका—आपको वेद शास्त्रो का ज्ञान है ? वेद मे स्पष्ट लिखा है ईश्वर ने जगत बनाया ?

समाधान - आपको वेद ज्ञान नही ज्ञानाभास है, आपने वेद मन्त्रो को पढा है परन्तु उनका तात्पर्य आपकी बुद्धि से अत्यन्त दूर है। बनाया और प्रलय किया इसका तात्पर्य क्या है, पूर्व नही था और प्रलय के बाद भी नही इसलिये मध्य मे इसकी मिथ्या प्रतीति है आपको तृप्त करने के लिये वेद ने अध्यारोप करके जगत को खडा करके निवदा दिया और एक सत्य को सिद्ध कर दिया जगत का अपवाद करके।

चित्त स्पन्दितमेवेद ग्राह्य ग्राहक वद्द्वयम् ।
चित्तनिर्विषय नित्यमसङ्ग तेन कीर्तितम् ॥72॥

ससार मे ग्राह्य ग्राहकता रूप से भासने वाला समस्त मेल चित्त स्पन्दन मात्र ही है। यह द्वैत आत्माऽद्वैत के आश्रित भास रहा है। चित्त निर्विषय नित्य असग आत्मा से अतिरिक्त और कुछ नही इस प्रकार एक आत्मा ही सर्व व्यापक सर्व रूप मे विराजमान है।

आत्मा के आश्रित चित्त ही चैत्य हुआ-हुआ अनेक क्रीडा कर रहा है अपने आपके अतिरिक्त न कुछ देखने को है और न देखने वाला कोई और है। हम अपनी ही क्रीडा अपने आप मे देख रहे हैं अपन आप के अतिरिक्त अपने आपको देखना ही क्या है आँख खुली तो अपने मे अपने आप रहे। जो स्वप्न मे पुण्य रहे या पाप रहे।

शका—अपने आप मे जड चेतन दो भाव किस प्रकार भासते हैं। एव आत्मा से दो प्रकार का भाव किस प्रकार प्रगट हो गया ?

समाधान—आत्मा से कुछ भी प्रगट नही हुआ न आत्मा मे कुछ भी लय होता है यह द्वैत प्रपच तो केवल माया से भासता है। माया आत्मा मे मिथ्या प्रतीति है, इसलिये सच्चिदानन्द आत्मा सदा अपने आप मे विराजमान नित्य निर्विकार है। वैसे माया की उपाधि मे ब्रह्म मे दो भाव जड चेतन कल्प लिये गये हैं—'तदजति तन्नैजति' आदि।

योऽस्ति कल्पित सवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभि सवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थत ॥73॥

सवृति जो आवरण का पर्याय है जिसका उपयोग बौद्ध दर्शन मात्र म केवल देखने को मिलता है कल्पित है परमार्थ से ढूढने पर भी कही तक भी इसका पता नही चलता। क्योकि इसकी सत्ता परतन्त्र आत्मतन्त्र है इसका पता आत्मा से अलग कही भी नही है। जिस प्रकार घी को गर्म करके छोड दिया जाये तो ठडा होते-होते उसका माँड उसके ऊपर झिल्ली सी आ जाता है परन्तु उसको घी से अलग नही किया जा सकता, उसको छूकर देखिये वह केवल घी ही है उसी प्रकार आत्मा से अलग माया का पता विचारने पर भी कही नहीं लगता। परमार्थ से माया की सत्ता है ही नही।

शंका—संवृति कहो या माया कहो, आवरण, अविद्या, अज्ञान कहो या फिर विक्षेप मानो, यदि इसकी सत्ता है ही नहीं तो आप माया को आत्मा की आवरणकर्त्री क्यों मानते हो ? आत्मा से अलग नहीं तो आत्मा को ढकती किस प्रकार से है ?

समाधान—कभी-कभी अपने आप से अनलग पदार्थ भी अपने आपको ढक लिया करते हैं यथा सूर्यप्रभा भी सूर्य को ढकने का हेतु होती है, तथा दर्पण की प्रतिबिम्ब ग्राह्यता भी प्रतिबिम्ब को ढकने का हेतु होती है। उसी प्रकार माया भी आत्मा को ढकने का हेतु होती है। सूर्य प्रभा न तो सूर्य है और न सूर्य से अलग है उसी प्रकार न तो संवृति आत्मा है और न आत्मा से अलग है।

अज कल्पित संवृत्या परमार्थेन नाप्यज ।
परतन्त्राभिनिष्पत्या संवृत्या जायते तु स ॥74॥

अधिकतर शास्त्रों में संवृति को अज बतलाया गया है परन्तु यह कल्पना परमार्थ से सत्य नहीं है, जिसकी सिद्धि ही परतन्त्र हो उसका क्या अनादिपना और क्या सादिपना। आत्मा की सत्ता के आश्रित संवृति की सत्ता है इसलिये आप जिस कल्पना से अज कहते हैं उसी कल्पना से संवृत्ति को जन्मा हुआ कहा जा सकता है। क्योंकि आत्म-सत्ता ही संवृत्ति रूप में भास रही है इसलिये आत्मा से अतिरिक्त कुछ और नहीं, आत्मा का धर्म अजत्व लेकर इसको अज कहा जा सकता है और आत्मा में द्वैत भाव की प्रतीति की जननी है इसलिये इसको जन्मधारिणी कहा जा सकता है।

शंका—माया का लक्षण आपने दो विरोधी धर्मों वाला कहकर चक्र में डाल दिया है ?

समाधान—माया का लक्षण कुछ बनता ही नहीं है इसलिये आपको समझाने के लिये बुद्धि की दौड़ मारी है जो अत्यन्त अधूरी है। वस्तुत माया अनिर्वचनीय मिथ्या है। वचनीय मिथ्या तो वन्ध्या पुत्र है और अनिर्वचनीय मिथ्या माया है। अध्यारोपात्मक लक्षण आपको बताये गये हैं।

शंका—आपका तात्पर्य माया के विषय में क्या समझाना है ?

चित्त स्पन्दितमेवेद ग्राह्य ग्राहक वद्द्वयम् ।
चित्तनिर्विषय नित्यमसङ्ग तेन कीर्तितम् ॥72॥

ससार मे ग्राह्य ग्राहकता रूप से भासने वाला समस्त मेल चित्त स्पन्दन मात्र ही है। यह द्वैत आत्माद्वैत के आश्रित भास रहा है। चित्त निर्विषय नित्य असग आत्मा से अतिरिक्त और कुछ नही इस प्रकार एक आत्मा ही सर्व व्यापक सर्व रूप मे विराजमान है।

आत्मा के आश्रित चित्त ही चैत्य हुआ-हुआ अनेक क्रीडा कर रहा है अपने आपके अतिरिक्त न कुछ देखने को है और न देखने वाला कोई और है। हम अपनी ही क्रीडा अपने आप मे देख रहे है अपने आप के अतिरिक्त अपने आपको देखना ही क्या है आँख खुली तो अपन मे अपने आप रहे। जो स्वप्न मे पुण्य रहे या पाप रहे।

शका—अपने आप मे जड चेतन दो भाव किस प्रकार भासते हैं। एक आत्मा से दो प्रकार का भाव किस प्रकार प्रगट हो गया ?

समाधान—आत्मा से कुछ भी प्रगट नही हुआ न आत्मा मे कुछ भी लय होता है यह द्वैत प्रपच तो केवल माया स भासता है। माया आत्मा मे मिथ्या प्रतीति है, इसलिये सच्चिदानन्द आत्मा सदा अपने आप मे विराजमान नित्य निर्विकार है। जैसे माया की उपाधि से ब्रह्म मे दो भाव जड चेतन रूप लिय गये है—"तदजति तन्नेजति' आदि।

योऽस्ति कल्पित सवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभि सवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थत ॥73॥

सवृति जो आवरण का पर्याय है जिसका उपयोग बौद्ध दर्शन मात्र म केवल देखने को मिलता है कल्पित है परमार्थ से ढढन पर भी कहीं तक भी इसका पता नही चलता। क्योंकि इसकी सत्ता परतन्त्र आत्मतन्त्र है इसका पता आत्मा से अलग कही भी नही है। जिस प्रकार घी को गम करके छोड दिया जाये तो ठडा होते-होते उसका माँड उसके ऊपर झिल्ली सी आ जाता है परन्तु उसको घी स अलग नही किया जा सकता, उसको छूकर देखिये वह केवल घी ही है उसी प्रकार आत्मा से अलग माया का पता विचारने पर भी कहीं नहीं लगता। परमार्थ मे माया की सत्ता है ही नही।

शका—सवृति कहो या माया कहो, आवरण, अविद्या, अज्ञान कहो या फिर विक्षेप मानो, यदि इसकी सत्ता है ही नही तो आप माया को आत्मा की आवरणकर्त्री क्यो मानते हो ? आत्मा से अलग नही तो आत्मा को ढकती किस प्रकार से है ?

समाधान—कभी-कभी अपने आप से अनलग पदार्थ भी अपने आपको ढक लिया करते है यथा सूर्यप्रभा भी सूर्य को ढकने का हेतु होती है, तथा दर्पण की प्रतिविम्ब ग्राह्यता भी प्रतिविम्व को ढकने का हेतु होती है। उसी प्रकार माया भी आत्मा को ढकने का हेतु होती है। सूर्य प्रभा न तो सूर्य है और न सूर्य से अलग है उसी प्रकार न तो सवृति आत्मा है और न आत्मा से अलग है।

अजः कल्पित सवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या सवृत्या जायते तु स. ॥74॥

अधिकतर शास्त्रो मे सवृति को अज वतलाया गया है परन्तु यह कल्पना परमार्थ से सत्य नहीं है, जिसकी सिद्धि ही परतन्त्र हो उसका क्या अनादिपना और क्या सादिपना। आत्मा की सत्ता के आश्रित सवृति की सत्ता है इसलिये आप जिस कल्पना से अज कहते हैं उसी कल्पना से सवृत्ति को जन्मा हुआ कहा जा सकता है। क्योंकि आत्म-सत्ता ही सवृत्ति रूप मे भास रही है इसलिये आत्मा से अतिरिक्त कुछ और नही, आत्मा का धर्म अजत्व लेकर इसको अज कहा जा सकता है और आत्मा मे द्वैत भाव की प्रतीति की जननी है इसलिये इसको जन्मधारिणी कहा जा सकता है।

शका—माया का लक्षण आपने दो विरोधी धर्मों वाला कहकर चक्र मे डाल दिया है ?

समाधान—माया का लक्षण कुछ बनता ही नही है इसलिये आपको समझाने के लिये बुद्धि की दौड मारी है जो अत्यन्त अधूरी है। वस्तुत माया अनिर्वचनीय मिथ्या है। वचनीय मिथ्या तो वन्ध्या पुत्र है और अनिर्वचनीय मिथ्या माया है। अध्यारोपात्मक लक्षण आपको वताये गये है।

शका—आपका तात्पर्य माया के विषय मे क्या समझाना है ?

समाधान—माया कुछ नहीं है आत्मा को सुझाना ही हमारा तात्पय है।

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वय तत्र न विद्यते।
द्वयाभाव स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ।।75।।

जो प्रपञ्च आत्मा मे कभी जन्मा ही नही उस प्रपञ्च मे आग्रह अर्थात् द्वैतमात्र मे आग्रह व्यर्थ ही है, क्योंकि जिसका न कोई कारण है और जो स्वयमेव किसी का कार्य सिद्ध नही होता इसलिये समझदार को द्वैत के अभाव को जानकर यह समझ लेना चाहिये कोई भी अहैतुक कार्य कभी भी उत्पन्न नही होता।

विचारवान का सकेत ही पर्याप्त होता है, तदनुसार अपने आप मे ब्रह्मता सच्चिदानन्दता का अनुभव करके सदा आनन्द मानना चाहिये और होने न होने की चिन्ता का परित्याग करके ससार स्वप्न से अपने को उबार लेना चाहिये। देश, काल, वस्तु की परिकल्पना को सदा-सदा के लिये भ्रममात्र अनुभव करना चाहिये।

शका—भला कोई मनुष्य बिना चिन्ता रह सकता है ? मन की मशीन इसे सदा-सदा चिन्ता मे मे परेशान रखती है ?

समाधान—इस चिन्ता का परिहार ही तो ज्ञान है निरन्तर आत्म श्रवण, आत्म मनन और आत्म निदिध्यासन दीर्घकाल तक श्रद्धा, धृति पूर्वक व्यक्ति करता रहे तो चिन्तन के माध्यम मे चिन्ता सागर से पार हो जाता है। श्रुति भगवती का प्रसाद आत्मज्ञान स्वरूप से ऐसा प्राप्त होता है कि व्यक्ति आत्म निष्ठ होकर आत्म भावना मे उबर जाता है।

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान ।
तदा न जायते चित्त हेत्वभावे फल कुत ।।76।।

उत्तम मध्यम अधम जगत का एक प्रकार का या अनक प्रकार का जब कारण या कारणो का आत्मा मे अस्तित्व भी नही। जब इस सत्य का उद्घाटन होता है तो फिर चित्त आगे जन्म नही लेता क्योंकि चित्त का जन्म ससार के जीवित सस्कारो से होता है। पुन-

पुन निर्विकार आत्मा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन से ससार का बाध परिपक्व हो जाता है। बाधित ससार के सस्कार चित्त को आगे इस प्रकार नही जन्मते जिस प्रकार भुने हुए धान्य से अकुर नहीं निकलता।

अद्वैत वेदान्त और बौद्ध धर्म की प्रक्रिया लगभग एक जैसी ही है। ससार का मिथ्यात्व दोनो मे समान है अपने आप मे ससार का सकोचना समान ही है। अधिकतर धर्मो की साधना तो उपासना तक ही सीमित है। केवल मात्र अपने आपसे अलग किसी तत्त्व की कल्पना करके मनुष्य अपने आपको किसी के समर्पित करके उसकी दया पर छोड देता है और मुक्ति के लिए किसी देवलोक की कल्पना करके बाट जोहता रहता है।

परन्तु वेदान्त और बौद्ध धर्म की साधना मे अपने आपको विचार मे समझकर शल्य क्रिया की जाती है और अपने आप से अतिरिक्त जो कल्पना अपने मे था सम्मिलित हुई है उसको ध्यान पूर्वक ज्ञान मे निष्काशन करके अपने आपका शेष रख लिया जाता है।

शका—वेदान्त मे लक्ष्य स्वरूपोपलब्धि है जो नित्य प्राप्त की प्राप्ति है। भूल मे अपने आपको अप्राप्त सा समझा जा रहा था अब उसकी प्राप्ति भूल निवृत्त होते ही हो जाती है। परन्तु बौद्ध धर्म के अनुसार तो सर्वोच्छेदन को निर्वाण का नाम दिया जाता है, वहाँ प्राप्त तो कुछ भी नहीं है। आपने बौद्ध धर्म और वेदान्त को समकक्ष मे क्यो रख दिया ? जब कि बौद्ध धर्म नास्तिक और अवैदिक है ?

समाधान—सर्वोच्छेदन करने पर भी उच्छेदनकर्त्ता निर्वाण रूप से शेष रह जाता है जो भगवान बुद्ध का मौन तथा माध्यमिक मतानुसार शून्य है तथा जिसे मुक्ति का नाम दिया जाता है। वेद मे भी नासदीय सूक्त आता है जो शून्य से मिलता-जुलता भी अभाव का प्रतिपादक नहीं। बौद्ध धर्म वेद ईश्वर वर्ण आश्रम को न मानता हुआ भी आचार प्रधान है कर्म और परलोक मे विश्वास रखता है। समाज मे जो बुद्धि, बल और धन की प्रधानता ही अग से उच्चतम, उच्चतर और उच्च गिनी जाती रही है उनसे भी बढ़कर सदाचार है जो व्यक्ति के हृदय मे दया जाग्रत करके, अहिंसा, परोपकार जाग्रत करके ममता की ओर ले जाता है। इस प्रकार सदाचार ही स्वमुक्ति

का सोपान है जिसका भगवान बुद्ध ने वर्णन किया है इसलिए बौद्ध-मत नास्तिक नही।

अनिमित्तस्य चित्तस्य अनुत्पत्ति. समाद्वया।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्य हि तद्यतः ॥77॥

क्योंकि चित्त उत्पत्ति का कोई निमित्त नही है इसलिए चित्त जो उत्पन्न सा प्रतीत हो रहा था। अनिमित्त के कारण अनुत्पन्न अनुभव किया गया और चित्त जन्य उत्पत्ति भी अद्वय आत्म रूप से अनुत्पत्ति समझ ली गई तो अलात एक निर्विकार पदार्थ शेष रहा। अब चित्त दृश्य चैत्य आत्मा ही आत्मा है।

अनुत्पन्न चित्त से अनुत्पन्न ससार भास रहा है यही माया है। सदा विराजमान आत्मा अनुत्पन्न चित्त मे चित्त होकर भास रहा है तथा अनुत्पन्न ससार म ससार होकर भास रहा है। कल्पना का कल्पित खेल आत्मा के आश्रित आत्म सत्ता से सत्य सा भास रहा है। इसके ऊपर एक मस्त सन्त गगादास जी का कथन याद आता है—

यह जगत मेरे प्रकाश में
बिन हुआ भान होता है।

निरन्तर मन का विश्वास करते रहने से आप सत्ता पर अनात्म भावना अनहुई भी परिपक्व हो गई है तथा स्वप्न तक मे भी अपने आपका विश्वास जागृत नही होता। कल्याणेच्छु को इसके विपरीत आत्म सत्य का धारण करने के लिए दीर्घकाल तक श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। अपने आप मे अपने आप का रस पी पी कर जो छके है उनकी तृप्ति वास्तविक तृप्ति है।

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन्।
वीतशोक तथा काममभय पदमश्नुते ॥78॥

कारण रहित कार्य का मिथ्यात्व निश्चय करके अपने आपसे अतिरिक्त कुछ और न बनने की दृढता से भववासना निवृत्त हो जाती है और अपने आंचल मे एकत्रित कर्मरूप सस्कार जो उत्पादन कहाता है उसे सदा सदा को ससार कारण वासना आत्मरूप से

विराजमान होती है। अपन आपके अतिरिक्त तीन काल मे और कुछ है नही इसलिय कोई मर गया, कोई मर रहा है, कोई मरगा इस कल्पना मे पडकर शोक का स्थान कहाँ ? अपने आप मे अलग कोई प्राप्तव्य तथा प्राप्त नही इसलिये काम को स्थान कहा ?

अपन से अतिरिक्त अपना कोई शत्रु नही, और अपन आप म अपने प्रति शत्रुता की सम्भावना नही इसलिये अभयता जो अपना स्वरुप है वह सदा प्राप्त अपने का प्राप्त होकर निज पद का प्रवेशपत्र प्राप्त हो जाता है। क्या माया की विडम्बना है व्यक्ति अपने आपका भूलकर अपने लिये आनन्द दोहनार्थ परकल्पना म भटकता फिरता है। देवी देवता बनाकर उन अपन बनाये देवी देवताओ के सम्मुख रोता है गिडगिडाता है माथा घिसता है और सुख प्राप्ति की कामना करता ह।

स्वय सच्चिदानन्द होता हुआ भी अपने आप म कल्पना का ससार खडा करके डर मारता फिरता है झाँझ मजीरे ढोल ढप वजाता फिरता हे अपने आपका भुलाने के लिये सौ प्रयत्न करता है किन्तु अपन आपका ज्ञानपूर्वक विश्वास नही करता।

अभूताभिनिवेसाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते।
वस्त्वभाव स बुद्ध्वैव नि सङ्ग विनिवर्तते ॥79॥

कुछ भी जन्मा नही आत्मा सदा अभूत है इस निश्चय म चित्त पुन पुन अज आत्मावृत्ति से सयुक्त हुआ सवृत्ति स नियुक्त निरावृत आत्मरुप मे विराजमान होता है वस्तुवर्ग का अभाव निश्चय करके निसग हुआ हुआ प्रवृत्ति मे निवृत्त हो जाता है। असग भाव म समस्त सगो पर विजय प्राप्त कर लेता है।।

धन, रुप, कीर्ति अथवा कचन, कीर्ति, कामिनी के सग की निरन्तर कामना, इसके साथ निरन्तर रति सचमुच अपनी असगता का अपहरण करने वाली है। आत्म भाव की विस्मृति समस्त अनर्थो को जन्मने वाली है इसलिये प्रमाद रहित होकर स्वाध्याय और ओर सत्सग म लगा रहे। अपने आपका उद्धार अपने हाथो करने का दृढ निश्चय करके अपने पुरुषार्थ को सदा जागृत रखे।

एक वार देख लेने की इच्छा, एक वार भोग लेन की इच्छा, एक वार अनुभवेच्छा व्यक्ति को हर समय परेशान रखती है और आगे को पुन पुन वासना उत्पन्न करके दुर्गति की ओर ले जाती है। इसलिये सावधानी परम आवश्यक है। ससार का मिथ्यात्व दुरम्पत्व सदा अनुभव करना चाहिये और अपने मनको आनन्द मे निर्विकल्प भाव मे सदा सुरक्षित रखना चाहिये। असगता के शस्त्र से ससार वृक्ष का छेदन करके अपनी अधिष्ठानता मे विराजना रहना चाहिये।

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थिति ।
विषय स हि बुद्धाना तत्साम्यमजमद्वयम् ॥80।

निवृत्ति और प्रवृत्ति ये दोनो सदा मन के आँगन मे उछल-कूद करती रहती हैं। इनके हेतु द्वेष और राग मानवमन को सदा दोलायमान रखते हैं, य दानो गति अज्ञानी व्यक्ति की हैं। कही भी अनुकूलता दखेगा ता राग के फूल बिछा देगा यदि कही थोडी सी प्रतिकूलता दखेगा क्रोध के दहकते अगारे निकलने लगगे। कही न कही से उखडना और कही न कही जमना वस इसी प्रक्रिया मे उसका जीवन निकल जाता है न कही से स्थाई निकल पाता है और न कही स्थाई जमपाता है।

परन्तु ज्ञान वाला आत्मनिष्ठ व्यक्ति निवृत्त होकर अप्रवृत्त हो जाता है। समष्टि सारा ससार उसके लिये उपेक्ष्य हो जाता है और कही भी विभाजन करके इतना अच्छा, इतना बुरा, ये अच्छा ये बुरा त्याग अधूरा त्याग अधूरा राग अधूरा ज्ञान अधूरा अज्ञान उसको परेशान नही करता। सम्पूर्ण प्रपच म मिथ्यात्व निश्चय करके वह सचमुच सदा सदा को निवृत्त होकर अप्रवृत्त हो जाता है तो इस निश्चय से उसकी स्थिति निश्चल हो जाती है।

यह निश्चला स्थिति जो साम्य अज अद्वय एकरस और एक है कवल प्रवुद्धजनो की ही समझ का विषय है यहाँ गौडपादार्य पुन बुद्ध पद का स्मरण करते हैं।

प्रजमनिद्रमस्वप्न प्रभात भवति स्वयम्।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातु स्वभावत. ॥81॥

धातु स्वभाव से ही एक रस ज्ञानस्वरूप अजन्मा निद्राविरहित स्वप्नरहित विशेप अपने आप मे निरन्तर विराजमान अचल है। अनादि अनन्त सच्चिदानन्द मे कुछ भी प्रवेश नही करता।

आत्मा को अपने आप मे अनुभव करने वाला ज्ञानी ग्रनन्त मौन को प्राप्त हो जाता है ससार को साँसारिक राह पर चलते देखकर उसको स्वप्न मे भी खिन्नता नही होती। ससार के रस को सब कुछ समझने वाले यदि कहने-सुनने से भी वाज नही आते अपनी उल्टी राह को नही छोडते। इस ससार के लिये हेर-फेर मे अपनी अमूल्य ग्रायु का धन निर्दयी होकर लुटा रहे है तनिक भी अपने ग्राप पर दया नही करते तो उन पृथज्जनो के लिये कहाँ तक रोया-धोया जाये। ये पृथज्जन चाहे अपने परिवार मे हो चाहे अपने पडौसी हो उनकी उल्टी चाल को सीधा करने के लिये अपने आपमे विक्षेप समर्पित करने का क्या लाभ ?

, अब हमको किसी का सीधापन या किसी का उल्टापन क्यो सुख-दुख प्रद हो। अब अपने आपको सब के ग्रात्मा अनुभव करने वाले के लिये किसी के गुण अवगुण क्या अन्तर डाल सकते है। "पर स्वभाव कर्माणि न प्रशसयेत् न गर्हयेत्"। किसी की क्या प्रशसा क्या निन्दा। स्वभाव तो माया ही आत्मा मे गुण अवगुण होकर भास रहे है।

धातु शब्द फिर चौकाने वाला आ गया है वैदिक दर्शनो मे धातु शब्द का उपयोग आत्मा या जीव के लिये कही प्रयुक्त नही हुआ। यह बौद्ध धर्म का ग्रपना विशेप शब्द है जो आत्मा के लिये लाक्षणिक रूप मे प्रयुक्त हुग्रा है। सामान्य रूप से धातु शब्द का उपयोग स्वर्ण, चाँदी, लोहा, सीसा, पारा, ताँवा आदि भौमिक तत्त्वो के लिये प्रयुक्त हुआ है और इन्ही मे इसका रूढ अर्थ है।

कोई भी धातु शुद्ध रूप मे पृथिवी से नही निकलती वह ग्रन्य पदार्थों के साथ मिली-जुली होती है। उसको पृथिवी मे बाहर निकाल कर ग्रनेक प्रक्रियाओ द्वारा शोधन किया जाता है, तब कही

एक बार देख लेने की इच्छा, एक बार भोग लेने की इच्छा, एक बार अनुभवेच्छा व्यक्ति को हर समय परेशान रखती है और आगे को पुन पुन वासना उत्पन्न करके दुर्गति की ओर ले जाती है। इसलिये सावधानी परम आवश्यक है। ससार का मिथ्यात्व दु ख-रूपत्व सदा अनुभव करना चाहिये और अपने मनको आनन्द से निर्विकल्प भाव मे सदा सुरक्षित रखना चाहिये। असगता के शस्त्र से ससार वृक्ष का छेदन करके अपनी अधिष्ठानता मे विराजना रहना चाहिये।

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थिति ।
विषय स हि बुद्धाना तत्साम्यमजमद्वयम् ॥80।

निवृत्ति और प्रवृत्ति ये दोनो सदा मन के आँगन मे उछल-कूद करती रहती है। इनके हेतु द्वेष और राग मानवमन को सदा दोलायमान रखते है, ये दानो गति अज्ञानी व्यक्ति की है। कही भी अनुकूलता देखेगा तो राग के फूल बिछा देगा यदि कही थोडी सी प्रतिकूलता दखेगा क्रोध के दहकते अगारे निकलने लगगे। कही न कही से उखडना और कही न कही जमना बस इसी प्रक्रिया मे उसका जीवन निकल जाता है, न कही से स्थाई निकल पाता है और न कही स्थाई जमपाता है।

परन्तु ज्ञान वाला आत्मनिष्ठ व्यक्ति निवृत्त होकर अप्रवृत्त हो जाता है। समष्टि सारा ससार उसके लिये उपेक्ष्य हो जाता है और कही भी विभाजन करके इतना अच्छा, इतना बुरा, ये अच्छा ये बुरा त्याग अधूरा त्याग अधूरा राग अधूरा ज्ञान अधूरा अज्ञान उसको परेशान नही करता। सम्पूर्ण प्रपच मे मिथ्यात्व निश्चय करके वह सचमुच सदा सदा को निवृत्त होकर अप्रवृत्त हो जाता है तो इस निश्चय से उसकी स्थिति निश्चल हो जाती है।

यह निश्चला स्थिति जो साम्य अज अद्वय एकरस और एक है केवल प्रबुद्धजनो की ही समझ का विषय है यहाँ गौडपादार्य पुन बुद्ध पद का स्मरण करते हैं।

अजमनिद्रमस्वप्न प्रभातं भवति स्वयम्।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातु स्वभावतः ॥81॥

धातु स्वभाव से ही एक रस ज्ञानस्वरूप अजन्मा निद्राविरहित स्वप्नरहित निशेष अपने आप मे निरन्तर विराजमान अचल है। अनादि अनन्त सच्चिदानन्द मे कुछ भी प्रवेश नही करता।

आत्मा को अपने आप मे अनुभव करने वाला ज्ञानी अनन्त मौन को प्राप्त हो जाता है ससार को सांसारिक राह पर चलते देखकर उसको स्वप्न मे भी खिन्नता नही होती। ससार के रस को सब कुछ समझने वाले यदि कहने-सुनने से भी बाज नही आते अपनी उल्टी राह को नही छोडते। इस ससार के लिये हेर-फेर मे अपनी अमूल्य आयु का धन निर्दयी होकर लुटा रहे है तनिक भी अपने आप पर दया नही करते तो उन पृथज्जनो के लिये कहाँ तक रोया-धोया जाये। ये पृथग्जन चाहे अपने परिवार मे हो चाहे अपने पडोसी हो उनकी उल्टी चाल को सीधा करने के लिये अपने आपमे विक्षेप समर्पित करने का क्या लाभ ?

अब हमको किसी का सीधापन या किसी का उल्टापन क्यो सुख-दुख प्रद हो। अब अपने आपको सब के आत्मा अनुभव करने वाले के लिये किसी के गुण अवगुण क्या अन्तर डाल सकते है। "पर स्वभाव कर्माणि न प्रशसयेत् न गर्हयेत्"। किसी की क्या प्रशसा क्या निन्दा। स्वभाव तो माया ही आत्मा मे गुण अवगुण होकर भास रहे है।

धातु शब्द फिर चौकाने वाला आ गया है वैदिक दर्शनो मे धातु शब्द का उपयोग आत्मा या जीव के लिये कही प्रयुक्त नही हुआ। यह बौद्ध धर्म का अपना विशेष शब्द है जो आत्मा के लिये लाक्षणिक रूप मे प्रयुक्त हुआ है। सामान्य रूप से धातु शब्द का उपयोग स्वर्ण, चाँदी, लोहा, सीसा, पारा, ताँबा आदि भौमिक तत्त्वो के लिये प्रयुक्त हुआ है और इन्ही मे इसका रूढ अर्थ है।

कोई भी धातु शुद्ध रूप मे पृथिवी मे नही निकलती वह अन्य पदार्थों के साथ मिली-जुली होती है। उसको पृथिवी मे बाहर निकाल कर अनेक प्रक्रियाओ द्वारा शोधन किया जाता है, तब कही

वह अपन मूल रूप मे आती है। उसी प्रकार प्राणी भी शरीर मे विराजमान हुआ-हुआ अपने साथ अनेक सामाजिक सांसारिक निज सस्कारयुक्त पर पदार्थों परस्वभावो और परकर्मों को अपने साथ जोड़े रहता है। जब श्रवण, मनन, निधिध्यासन की भूमिकाओं से इस मानव तन मे आकर गुजरता है तो शुद्ध होकर अपने आप मे आप शेष रहता है। इन सब धर्मों के कारण इस जीव को भी धातु कहा गया है।

कोई चाहे कितना ही पर्दा डाले परन्तु फिर भी पर्दे पर्दे गौडपादाचार्य जी पर बौद्ध प्रभाव इतना स्पष्ट है कि उसको अन्यथा किया ही नही जा सकता। अन्त मे अपने आप भी बौद्ध धर्म के प्रभाव का नकारा करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वह प्रयत्न ही प्रभाव सिद्ध करने के लिये पर्य्याप्त है।

सुखमाव्रियते नित्य दु ख विव्रियते सदा।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवान सौ ॥82॥

आत्माकार वृत्ति की अभ्यासवश वृद्धि से सुख अपने आपको आवृत्त करता जा रहा है अर्थात् सुख स्वरूपता का अनुभव बढ रहा है। दु ख का आवरण भग होता जा रहा है। अपने आप मे से अनात्म भाव का निरोध होकर आत्म भाव जाग्रत होता जा रहा है। किसी भी प्रक्रिया को अपना कर चाहे सृष्टि दृष्टिवाद हो, चाहे एक जीव-वाद हो, चाहे अजातवाद हो सबका फल अपने आप मे विराजमानता है। आभासवाद हो, चाहे बिम्ब प्रतिबिम्ब वाद हो, चाहे अवच्छेदवाद हो सबका फल अपने आप मे माया का मिथ्यात्व निश्चय और अपने आपका अजत्व निश्चय ही है।

चाहे ससार की दुखरूपता निश्चय करके, चाहे ससार का अनात्मव निश्चय करके, चाहे ससार का क्षणिकत्व निश्चय करके, इसका निरोध और अनिर्वचनीय निर्वाण स्वरूपता अनुभव करना ही परम लक्ष्य है।

अष्टांग मार्ग अपना कर या अष्ट योगाग अपना कर अपने आपके अन्दर अधातुपना जो आया है उसका समाधि स निरोध करो शील-

पूर्वक प्रज्ञा जाग्रत होना तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा द्रष्टा का स्वरूपावस्थान ही समस्त योग साधना का फल है। अपने आप शुभेच्छा, शुभ विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी तथा तुर्यगा इन सप्त भूमिकाओं का फल धातु शोधन ही है।

> अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुन.।
> चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥83॥
>
> कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
> भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥84॥

साधारण व्यावहारिक दर्शन मात्र में योग्य दार्शनिक समाज किसी पदार्थ का वर्णन करने के लिए चार कोटि अपनाते है यथा, "घट है" यह अस्ति नाम वाली प्रथम कोटि है, "घट नही है" घड़ा का अनस्तित्व, नास्ति नाम वाली दूसरी कोटि है; तीसरी कोटि, "कारण रूप में अर्थात् मिट्टी रूप से है घट रूप मे नही, कार्यरूप से नही" यह "अस्ति नास्ति" कहलाती है, चौथी कोटि "नास्ति नास्ति" "न तो कारण मिट्टी" न कार्य घट है समझनी चाहिये। इन चारो कोटियों से वर्णन न किया जाने वाला तत्त्व आत्मा है।

चल, स्थिर, चलाचल और अभाव ये उपर्युक्त कोटियो के स्थूल दृष्टान्त है इसके द्वारा उपर्युक्त चार कोटियो के द्वारा नासमझ बालक ही आत्मा का विवेचन करते है वस्तुत अनिर्वचनीय आत्मा किस कोटि मे लाकर वर्णन किया जा सकता है। ये चार कोटियाँ और इनके द्वारा गृहीत प्रपञ्च से आत्मा आवृत है परन्तु इनसे अत्यन्त अछूता है। ये आवरण तो बौद्धिक तथा वाणी के सम्बन्ध से कल्पित है। जिसने इन बौद्धिक मापदण्डों से आत्मा को अलग देखा वह ही सर्वज्ञ है।

यह विवेचना माध्यमिक कारिका की है बस आत्मा की जगह शून्य कह दीजिये। अब तो विद्वानो को संशय नही रहना चाहिये कि गौडपादीय कारिका माध्यमिक कारिका का वैदिकीकरण है।

भगवान शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त वस्तुत. यदि गौडपादीय कारिका पर ही खड़ा किया है तो निश्चय पूर्वक श्री नागार्जुन की

की माध्यमिक कारिका ही इस सिद्धान्त का मूल है। भगवान बुद्ध का दर्शन माध्यमिक कारिका में आकर पूर्ण दार्शनिक उच्चता को छूता है तो श्री गौडपादाचार्य ने उस प्रसाद को माण्डूक्योपनिषद् के पात्र में परोस दिया है।

जब तक माध्यमिक कारिका मूल रूप में ऐतिहासिक कारणों से प्रकाश में नहीं आई तब तक गौडपादीय कारिका स्वतन्त्र ग्रन्थ समझा जाता रहा और भगवान शंकराचार्य ने भी यही समझकर इसके ऊपर टीका लिखी परन्तु पुरातत्व विद्वानों द्वारा माध्यमिक कारिका की खोज हो जाने पर कोई भी विद्वान आँख खोल कर देख सकता है। दण्डी सन्यासी समुदाय और वेदान्त सम्प्रदाय के माण्डलेश्वर चाहे गौडपादाचार्य को श्री शुकदेव का शिष्य मानकर अपनी परम्परा ब्रह्मा तक ले जायें परन्तु इतिहास और स्वयं गौडपादीय कारिका इस सिद्धान्त के अत्यन्त विपरीत है।

ब्राह्मणवाद में संस्कृत का पठन पाठन अधिकतर पुरोहितों के कारण रहा है तो वे भी जाति-पाति के घोर पुजारी होने के कारण इस सत्य को सदा छिपाये रहे या उनको ज्ञान नहीं था अथवा साधारण प्रजा तक इस सत्य के उद्‌घाटन में अपनी उत्तमता के सिद्धान्त को भय था इसलिये उन्होंने भी कभी ये स्वीकार नहीं किया।

आधुनिक पक्षपात रहित कई पाश्चात्य विद्वानों तथा भारतीय विद्वानों ने ये सत्य स्वीकार तो किया ही है साथ ही संसार के सम्मुख इस सत्य को लाये भी है। कई जैसे पं बलदेव प्रसाद उपाध्याय जैसे विद्वानों ने भारतीय दर्शन में बौद्ध धर्म का वर्णन तो किया है परन्तु विवेचना तथा निष्कर्ष में घोर पक्षपात किया है। स्वनामधन्य श्री राधाकृष्णन ने अपनी 'इंडियन फिलासफी' नामक पुस्तक में हमारे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है परन्तु गौडपादीय कारिका के विषय में वे लगभग मौन ही रहे हैं।

ऐतिहासिक उथल पुथल के कारण जिस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथजी बौद्ध सिद्धान्त में दीक्षित होकर और नौ नाथ तथा चौरासी सिद्धों में गिने जाते हुये भी अपने आप को शैव सम्प्रदाय में गिनने लगे

तथा आगे उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने अपने आपको स्वतन्त्र शैव सम्प्रदाय का आचार्य घोषित कर दिया उसी प्रकार गौडपादीय सम्प्रदाय के विषय में समझना चाहिये। नौ नाथ चौरासी सिद्ध बौद्ध तन्त्रों के अभ्यासी थे उनके चित्र अनेक बौद्ध गुफाओं में अबतक उत्कीर्ण मिलते हैं किन्तु नाथ सम्प्रदाय ने उनको अपने साथ जोड़ लिया और बौद्ध धर्म के विपरीत समाज में लहर देखकर अपने आपको शैव घोषित कर दिया।

उसी प्रकार माध्यमिक कारिका के सम्प्रदाय द्वारा उपकृत श्री गौडपादीय कारिकाकार ने वैदिक परिधान पहन लिया। लेकिन नाथों की मुद्रायें और गौडपादाचार्य की विवेचना ने इस रहस्य को समाज के सम्मुख रख दिया है।

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥85॥

अपने आप में समस्त प्रपञ्च को कल्पित अनुभव करके सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। सजातीय, विजातीय स्वगत भेद से रहित अद्वय ब्रह्मपद जो सब कल्पनाओं को अपने में समेटे हुये हैं प्राप्त हो जाता है। जिस स्वरूप में संसार का न आदि है और न मध्य है और न अन्त है। अपने आप में संसार की सम्भवता भी नहीं उस अपने आपको पाकर क्या पाने की भला आकांक्षा रह जाती है।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत ॥

जब व्यापक पुरुष आत्मा को पहँचाना अपने आप में।
किस इच्छा से किस काम वशी डालू तन को परिताप में॥

निर्भय पद अपने आप स्वयम्।
आता नहीं जाता नहीं अयम्॥

बनता मिटता बँधता न कभी।
सब भेद रहित परमाद्वयम्॥

इच्छा न रही शिक्षा न रही।
साधकता बाधकता न रही॥

बन्धन गुग्नी की क्या चर्चा।
अपन में मादकता ही नहीं॥

विप्राणां विनयो ह्येव शमः प्राकृत उच्यते।
दमः प्रकृति दान्तत्वादेव विद्वाञ्शशं व्रजेत् ॥86॥

विप्रकृष्ट बुद्धि वाले विप्रों की स्वाभाविक विनय आत्मस्थिति शम कहलाती है तथा स्वाभाविक उनका चातुर्य उनको अनात्म कल्पना से निवृत्त करके वास्तविक आत्म स्थिति रूप शम में स्थित कर देता है। केवल मात्र शास्त्रीय प्रवचन में चातुर्य मात्र से कुछ बनने वाला नही वास्तविक शम तो आत्मा में विराजमानता है।

कितने प्रतिवादी भयकर भय देखे-देखते भयभीत होते-होते कुत्ते की भाँति भौंक-भौंक कर हारते जीतते चले जाते हैं परन्तु वास्तविक शम उनको प्राप्त नही होता क्योंकि अपने से अलग भगवान की कल्पित कल्पना मे यो मन बहलाव तो हो जाता है परन्तु मन की निवृत्ति नही होती। पेड की छाया मे अपनी छाया खो जाने से वास्तविक निर्भयता प्राप्त नहीं होती और छाया का भूत सदा-सदा को मरता नहीं। जब छाया के मिथ्यात्व को अनुभव किया जाता है और अपने सत्यत्व को अनुभव किया जाता है तो छाया के दीखने रहने पर भी छाया का भूत बाल बांका नहीं कर सकता।

अपने मे बुझकर और बुझा
विज्ञान विकल्पित कलना को।
जब शेष रहा अज भाव सदा
लागत है अब जग छलना को॥

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिक मिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥87॥

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम्।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥8 ॥

आत्मवस्तु जब संवृतियुक्त होती है तो व्यावहारिक सत्ता भासती है परन्तु इतना समझना चाहिये संवृति अर्थात् अविद्या के योग से

आत्मा ही अनेक वस्तुओं के रूप में मानती है। व्यावहारिक सत्ता जो अविद्या की विक्षेप शक्ति हो है निवृत्त होकर केवल माया आवरण रूप से आत्मा को आवरित करके विराजमान होती है तो शुद्ध लौकिक रूप से आत्मा ही ध्यानस्थ सी सुशोभित होती है।

अवस्तु तथा अनुपलब्ध संसार आत्मा ही है इसी को लोकोत्तर माना गया है। इसी तत्त्व को बुद्धों ने ज्ञान ज्ञेय और विशेष रूप से विज्ञेय माना है इस आत्मा को जानकर परम निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त विवेचन से एक बात और सिद्ध होती है कि श्री गौडपाद जी पुन-पुन बुद्धगण का विशेष प्रयोग करके अपनी श्रद्धा बौद्ध धर्म के प्रति दिखाते जाते हैं और बताते जाते हैं, अनेक जन्मों की साधना से बुद्ध पद प्राप्त हुआ करता है। अनेक बुद्ध हो चुके हैं आगे भी होंगे जैसा भगवान बुद्ध स्वयमेव कई स्थानों पर कहते हैं परन्तु कट्टर पन्थियों ने धर्म को वर्गवाद से बाँध रखा है।

> ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम्।
> सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधिय ॥89॥

त्रिविध, शुद्धलौकिक लोकोत्तर तीन प्रकार का ज्ञान माना गया है। इनकी व्याख्या पूर्व कारिकाओं में अभी-अभी की गई है। आत्म स्थिति को बुद्धिमानों के लिए सर्वत्र सर्वज्ञता स्वीकार की गई है इस स्थिति में ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति के आश्रित उदय अस्त होने वाला नहीं होता। कभी भी ज्ञान का लोप न होने के कारण आत्मा को ज्ञानस्वरूप माना गया है।

शंका—क्या लोकोत्तर ज्ञान आत्म स्वरूप नहीं जैसा आप पूर्व में लोकोत्तर ज्ञान को आत्मा कह आये हैं?

समाधान—आत्माकार वृत्ति जो आवरण भंग करके निवृत्त हो जाती है आत्माकार वृत्ति तक तो लोकोत्तर ज्ञान स्वरूप है और आवरण भंग होते ही वृत्ति की निवृत्ति आत्म स्वरूप ही है।

शंका—क्या आत्मवेत्ता का सांसारिक ज्ञानार्थ भी वृत्ति का उदय नहीं होता? अगर उदय नहीं होता तो आत्मवेत्ता व्यवहार किस प्रकार करता है?

समाधान—प्रारब्ध भोगार्थ वृत्ति उदय होती है, पदार्थाकार होती है तथा फलाकार हुई-हुई सांसारिक व्यवहार की सिद्धि मे हेतु होती है परन्तु आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप एकरस है उसको एक बार निश्चय कर लेने से आत्म ज्ञानार्थ वृत्ति की उदयता और लयता का कोई उपयोग नही।

हेय ज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणत ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥90॥

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनो अवस्थाये आत्मा मे आरोपित है इसलिए इनको हेय कहा गया है तथा अपने स्वरूप का ज्ञान ज्ञेय माना गया है। राग द्वेष काम क्रोध आदि दोषो को अपाक्य माना गया है इनको साधनाशील जिज्ञासु को विशेष ज्ञेय समझना चाहिये। इन बातो को समझने के लिये हेय का परित्याग करके ज्ञेय को जानकर समस्त विकारो काम क्रोधादि का पूर्ण निरोध करना चाहिये। अपने आपके ज्ञान का तात्पर्य ही अपनी शुद्धता की अनुभूति तथा अपने मे से कलुषित अशुद्धि का निष्कासन है। मैं की शुद्ध आत्म रूप मे अनुभव आपकी साधना का फल है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनो मे, इन तीनो से अलग आत्मा को ज्ञाता रूप मे स्वीकार किया गया है। आत्मा मे आत्मा के अतिरिक्त जाग्रत आदि तीनो अवस्थाये लेशमात्र नही। वास्तविक उपलम्भ उपलब्धि तो अव्यभिचारी आत्मा ही है। शेष उपलब्धि तो काम चलाऊ सांसारिक मात्र है। आत्मो उपलब्धि को कभी भी अनुपलब्धि मे नही बदला जा सकता।

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किञ्चन ॥91॥

जितना जगत प्रपंच प्रकृति है वस्तुतः वह सब आकाश की भांति शून्य है। प्रकृति द्वारा जो औपाधिक भेद खड़ा किया गया है वह भी आकाश की भाँति अपदार्थ ही है इसलिये इन उपाधियों द्वारा भासमान समस्त जीव अनादि है। आत्मा ही इन कल्पित उपाधियों द्वारा अनेक रूप में भास रहा है। उपाधि बनती बिगड़ती प्रतीत होती है और इससे जीवों में जन्म-मरण की भ्रान्ति भासती है अन्यथा एक आत्मा में किसका जन्म किसका मरण ?

जीवों का नाम और इनकी अलग-अलग प्रतीति सब औपाधिक है अन्यथा इनमें भेद की गन्ध भी नहीं उनमें नानात्व नाम को भी नहीं। कहीं भी कभी भी वे आत्मा से अलग कुछ भी नहीं। आत्मा ही अनेक जीवों के रूप में भास रहा है। अर्थात् एक आत्मा ही अपने आपमें विराजमान है। अपने आपको सच्चिदानन्द रूप मे अनुभव करने वाले को अनेकत्व कहाँ अपने आप मे उसकी आस्था उसे समस्त कष्टों मे उबार लेती है।

हम भास रहे मैं में सारे
सब एक अनादि ब्रह्म सभी।
अब भेद न हम में लेश रहा
अद्वैत अखंड न द्वैत कभी ॥

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः।
यस्यैव भवति क्षान्ति सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥92॥

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥93॥

समस्त जीव निश्चित ही स्वाभाविक सदा से ही ज्ञानस्वरूप हैं। आत्मा ही है, एक ही हैं, अखंड ही हैं, अंश अंशी भाव से रहित हैं। सबको सबमें सुलभ शान्त ही है जिसका निश्चय ही सबको निज आनन्द से भर देने वाला है। अपने आपको जो ठीक जानता है वह वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है।

सदा से अनुत्पन्न सदा से शान्त स्वभाव से ही निर्वाण स्वरूप वृत्ति विरहित सभी जीवो की वास्तविकता सम अभिन्न अज अत्यन्त एकरस ज्ञानस्वरूप आत्मा आपने आप मे सदा प्रत्यक्ष है जो स्वप्न मे भी अप्रत्यक्ष नही, जिसकी ज्ञानस्वरुपता कभी विपरिलोप नही होती इस अपने आपको अपने आप मे अनुभव स्वरूप को अनुभव करने मे क्या कठिनाई है।

नही कही भागना है न कुछ त्यागना है न कुछ ग्रहण करना है। न अपने की कल्पना न पराये के कल्पना न अच्छे की कल्पना न बुरे की कल्पना अपने आपमे अपने आपकी प्राप्ति कितनी सरल सी बात है। अभागे लोग व्यर्थ की द्वैत की कल्पना मे अपने आप को खोये फिरते है।

वैशारद्य तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।
भेदनिम्ना पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणा स्मृता. ।।94।।

हे सांसारिक चातुर्य वाले चालाक व्यक्ति ! तू अपने आपको भोक्ता समझकर और ससार को भोग्य समझकर जो इस ससार को एकत्रित करके अपने सिर पर रख रहा है और सोच रहा है यह सामान मुझे गर्मी मे काम देगा, ये सामान मेरे लिये सर्दी मे उपयोगी होगा और इस सामान को वर्षा मे काम लाऊँगा। ये धन मुझे बीमारी मे काम आयेगा, यह धन बुढापे मे काम देगा, ये मकान उस बच्चे को दूगा ये मकान इस बच्चे को दूगा तब काम लाऊँगा, ये सामान अमुक देश मे काम आयेगा। इस प्रकार की अनेक चिन्ताओ से दग्ध व्यक्ति अपने आप पर दया कर तुझे तेरा ससार तेरे सिर चढकर कितना कष्ट दे रहा है।

ये मेरा शत्रु है, ये मेरा मित्र है, ये मेरा सम्बन्धी है, ये मेरा परिवार वाला है इस प्रकार इन काल्पनिक कल्पे हुये जीवा को भेद बुद्धि से देखने वाले पृथग्वादी तू कितना कृपण है, तेरे ऊपर किस ज्ञानी को तरस न आयेगा, अपने आप मे व्यर्थ ससार कल्पने वाले तू इतना नासमझ होकर अपने आपको ससार की आशा जाल मे बाँधे हुये है जो विचारा ससार अपने आप ही असार है। यदि बुद्धि मे बटवारा

करते-करते अखण्ड सच्चिदानन्द तू असीमता में सीमा-सीमा कल्पकर बन्धन भोग रहा है। अपने आप पर दया कर।

> अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
> ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥95॥

अपने अज, अविनाशी, अखण्ड, अनादि, अनन्त असीम, अद्वय, अक्लेश, अद्वेष, अपार, अविरोधी, अनुकूल, निराकार, निर्विकार, निर्विशेष स्वरूप में विश्राम करने वाले महापुरुष ! तू सचमुच लापता अलिंग अवर्ण अजाति अगोत्र, अकाल अदेश अवस्तु सुनिश्चित निश्चय वाला है। तेरे अतिरिक्त समस्त संसार दण्ड भरता फिरता है।

इस संसार के एकमात्र आधार तू महाज्ञानी सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी सर्वस्वामी सर्वाधिष्ठान है। सारी कल्पनाओं को अपने में पान कर जाने वाले तेरी महिमा अपार है तेरा निवास अविनाशी है, तेरा लोक अदृश्य बुद्धि से भी परे है। हे निर्वाणस्वरूप तुझे बांधने वाला तीन काल में कोई नहीं। तू बन्धन मुक्ति की कल्पना से रहित है।

कभी किसी जाति में सम्मिलित होने वाले, कभी किसी वर्ण के साथ सम्बन्ध जोडने वाले, कभी किसी मत मजहब धर्मपन्थ का दम भरने वाले जीवन की अन्तिम यात्रा में कोई तेरे काम आने वाला नहीं। अपने आपका ज्ञान ही अपने आपकी निष्ठा ही अपने अकेले आपका सहारा ही काम आयेगा। तेरी अपनी व्यथा में अपने अतिरिक्त और कौन सहायता करने वाला है। अपने आपका सहारा ले शेष निराधारों का सहारा लेता है अपने आपका ज्ञान ही काम आयेगा।

> अजेष्वमसङ्क्रान्तं यद्धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।
> यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥96॥

समस्त जीव ज्ञानस्वरूप शुद्धसच्चिदानन्द ब्रह्म ही है अनेकता आत्मा में मायिक है तथा उसी मायिक औपाधिक अनेकता का नाम जीव है। घटाकाश मठाकाश आदि अनेक उपाधियों वाला आकाश वस्तुतः एक शुद्ध आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। घटाकाश तथा—

सदा से अनुत्पन्न सदा से शान्त स्वभाव से ही निर्वाण स्वरूप वृत्ति विरहित सभी जीवों की वास्तविकता सम अभिन्न अज अत्यन्त एकरस ज्ञानस्वरूप आत्मा आपने आप मे सदा प्रत्यक्ष है जो स्वप्न मे भी अप्रत्यक्ष नही, जिसकी ज्ञानस्वरूपता कभी विपरिलोप नही होती इस अपने आपको अपने आप मे अनुभव स्वरूप को अनुभव करने मे क्या कठिनाई है।

नही कही भागना है न कुछ त्यागना है न कुछ ग्रहण करना है। न अपने की कल्पना न पराये के कल्पना न अच्छे की कल्पना न बुरे की कल्पना अपने आपमे अपने आपकी प्राप्ति कितनी सरल सी बात है। अभाग लोग व्यर्थ की द्वैत की कल्पना मे अपने आप को खोये फिरते है।

वैशारद्य तु वै नास्ति भेदे विचरता सदा।
भेदनिम्ना पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणा स्मृता ॥94॥

हे सांसारिक चातुर्य वाले चालाक व्यक्ति! तू अपने आपको भोक्ता समझकर और ससार को भोग्य समझकर जो इस ससार को एकत्रित करके अपने सिर पर रख रहा है और सोच रहा है यह सामान मुझे गर्मी मे काम देगा, ये सामान मेरे लिये सर्दी मे उपयोगी होगा और इस सामान को वर्षा मे काम लाऊँगा। ये धन मुझे बीमारी मे काम आयेगा, यह धन बुढापे मे काम देगा, ये मकान उस बच्चे को दूगा ये मकान इस बच्चे को दूगा तब काम लाऊँगा, ये सामान अमुक दशा मे काम आयेगा। इस प्रकार की अनेक चिन्ताओं से दग्ध व्यक्ति अपने आप पर दया कर तूने तेरा ससार तेरे सिर चढाकर कितना कष्ट दे रहा है।

ये मेरा शत्रु है ये मेरा मित्र है, ये मेरा सम्बन्धी है, ये मेरा परिवार वाला है इस प्रकार इन काल्पनिक कल्पे हुये जीवो को भेद बुद्धि से देखने वाले पृथग्वादी तू कितना कृपण है, तेरे ऊपर किस ज्ञानी को तरस न आयेगा, अपने आप मे व्यर्थ ससार कल्पने वाले तू इतना नासमझ होकर अपने आपको ससार की आशा जाल मे बाँधे हुये है जो बिचारा ससार अपने आप ही असार है। यदि बुद्धि मे बटवारा

करते-करते अखण्ड सच्चिदानन्द तू असीमता में सीमा-सीमा कल्पकर बन्धन भोग रहा है। अपने आप पर दया कर।

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥95॥

अपने अज, अविनाशी, अखण्ड, अनादि, अनन्त असीम, अद्वयं, अक्लेश, अद्वेष, अपार, अविरोधी, अनुकूल, निराकार, निर्विकार, निर्विशेष स्वरूप मे विश्राम करने वाले महापुरुष ! तू सचमुच लापता अलिंग अवर्ण अजाति अगोत्र, अकाल अदेश अवस्तु सुनिश्चित निश्चय वाला है। तेरे अतिरिक्त समस्त संसार दण्ड भरता फिरता है।

इस संसार के एकमात्र आधार तू महाज्ञानी सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी सर्वस्वामी सर्वाधिष्ठान है। सारी कल्पनाओ को अपने मे पान कर जाने वाले तेरी महिमा अपार है तेरा निवास अविनाशी है, तेरा लोक अदृश्य बुद्धि से भी परे है। हे निर्वाणस्वरूप तुझे बांधने वाला तीन काल मे कोई नही। तू बन्धन मुक्ति की कल्पना से रहित है।

कभी किसी जाति मे सम्मिलित होने वाले, कभी किसी वर्ण के साथ सम्बन्ध जोडने वाले, कभी किसी मत मजहब धर्मपन्थ का दम भरने वाले जीवन की अन्तिम यात्रा मे कोई तेरे काम आने वाला नही। अपने आपका ज्ञान ही अपने आपकी निष्ठा ही अपने अकेले आपका सहारा ही काम आयेगा। तेरी अपनी व्यथा में अपने अतिरिक्त और कौन सहायता करने वाला है। अपने आपका सहारा ले शेष निराधारो का सहारा लेता है अपने आपका ज्ञान ही काम आयेगा।

अजेष्वमसङ्क्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥96॥

समस्त जीव ज्ञानस्वरूप शुद्धसच्चिदानन्द ब्रह्म ही है अनेकता आत्मा में मायिक है तथा उसी मायिक औपाधिक अनेकता का नाम जीव है। घटाकाश मठाकाश आदि अनेक उपाधियों वाला आकाश वस्तुतः एक शुद्ध आकाश के अतिरिक्त और कुछ नही। घटाकाश तथा

महाकाश अपने गुण धर्मों म महाकाश मे सम ही हैं। इस औपाधिक अनेकता से आकाश के धर्म अक्षुण्य ही हैं उनमें कोई अन्तर नही आया। ठीक इसी प्रकार समस्त जीव ज्ञानस्वरुप हैं।

ज्ञान सदा एकरस न वहने वाला वृत्ति की उपाधि मे चलता भासता है परन्तु स्वभाव से अचल है उसमे चलने का प्रश्न नही उठता क्यों आत्मा ज्ञानघन है उसमे आने जाने का क्या सम्बन्ध ? पदार्थों का प्रकाशन करता हुआ भी असग है, जिस प्रकार सूर्य निज प्रभा से चराचर जगत का प्रकाशन करता हुआ भी चराचर से असग है। न तो सूर्य से प्रभा निकलती है और न उसमें सूर्य प्रभा का प्रवेश होता है। परन्तु सभी प्राणी नासमझीवश सूय प्रभा को सूर्य से निकलन वाली मानते हैं तथा सूर्य मे प्रवेश कर ने वाली मानते हैं परन्तु यह सत्य नही। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान न तो आत्मा से निकलता है और न आत्मा मे प्रवेश करता है परन्तु फिर भी जगत का प्रकाशक है।

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चित ।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युति ।।97।।

अज्ञानी व्यक्ति थोडी सी भी प्रतिकूलता प्राप्त होते ही असगता भी नही रख पाता, आवरण निवृत्ति तो दूर की बात है। क्या सुख-दुख क्या लाभ हानि म उसकी लेशमात्र असगता नही भला आवरण भग ता अज्ञानी के लिये दूर की बात है।

शका —आवरण भगता का क्या लक्षण है ?

समाधान—अपने आपके अतिरिक्त इस विविधिता में कुछ सत्य न प्रतीत होना आवरण भगता का लक्षण है।

शका—क्या ज्ञानी, आवरण मुक्त महात्मा खाना नही खाता ? मकान मे नही रहता ? कपडा नही पहनता ?

समाधान—इन शरीर के धर्मों म वरतता हुआ ज्ञानवान इन क्रियाओ को अपने में नही मानता।

शका—क्या ज्ञानी का अन्त करण वृत्ति रहित रहता है ? क्या

उसकी ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय प्राणो की क्रियाये निवृत्त हो जाती है ?

समाधान—ज्ञानी अज्ञानी सभी की मशीन अपने-अपने धर्मानुसार क्रिया करती है परन्तु ज्ञानी इन स्वाभाविक यान्त्रिक क्रियाओं को न अपनी क्रिया समझता है और इनकी गुणता विगुणता में दुखी सुखी होता है ज्ञानवान की दृष्टि मे जगत भासता हुआ भी मिथ्या है।

> अलब्धावरणः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
> आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुद्धयन्त इति नायकाः ॥98॥

आवरण ढूँढने चले परन्तु किसी भी जीव मे आवरण ढूंढे न मिला। जिन्होंने विचार किया ही नही उनको आवरण अनहुआ भी सदा घेरे रहता है परन्तु अपने आप की मशाल लेकर जब आवरण खोजा तो आवरण का अकाल पड गया। स्वाभाविक ही समस्त जीव ज्ञानस्वरूप होने के कारण आवरण रहित हैं यों अविद्या से आवरण भासता रहे तो अलग बात है।

पूर्व बुद्ध भी अपने आपको ज्ञानस्वरूप अनुभव करके मुक्त हो गए और आज भी नायक शास्ता बुद्ध अपने आप मे विराजमान बन्धन मुक्ति से अत्यन्त अछूते हैं। बुद्ध न आये है न गये है, बुद्ध मे न देश है तो जायें कहाँ ? बुद्ध मे न काल है तो गये कब आये कब ? बुद्ध मे न वस्तु है तो बुद्ध राग रञ्जित होकर बंधे किसमे ?

बुद्ध मे न गुरु है न शिष्य, बुद्ध का माता है न पिता, बुद्ध का न बन्धु है न मित्र। बुद्ध से सब नाता जोडते है बुद्ध किसी से नाता नही जोडता। बुद्ध का न वर्ण है न आश्रम न जाति-पाँति न छोटा बडा। बुद्ध सदा सम है। बुद्ध वज्र शून्य है, बुद्ध पूर्ण ब्रह्म है, शंकर बुद्ध है, विष्णु ब्रह्मा सभी बुद्ध मे भासते हैं। बुद्ध इन सबसे अछूता है।

> क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः ।
> सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम् ॥99॥

बुद्ध का ज्ञान अपने आपसे अतिरिक्त कही किसी विषय की परिक्रमा नही करता अर्थात् विषय के आकार मे परिणत नही होता।

अन्त करण की वृत्ति में आभासित होता हुआ भी अपने आपका कभी परित्याग नही करता। जिस प्रकार घटस्थ जल मे प्रतिविम्बित होता हुआ भी सूर्य अपने आपमे से कही बाहर नही जाता इसी प्रकार ज्ञान जो आत्मा का पर्य्याय है अपने आपका परित्याग करके कही और जगह नही जाता। सभी जीव ज्ञान ही है ज्ञान के अतिरिक्त कुछ और नही कोई भी अपने आपसे अलग कही और जगह न जाता है न आता है।

गौडपादाचार्य अपने मत को बुद्ध मत से कुछ अलग बताते हुए कहते हैं, "यह एकरस ज्ञान स्वरूप आत्मा बुद्ध का उपदिष्ट विषय नही। क्योकि बौद्ध मत मे ज्ञान क्षणिक और आकृति तथा ज्ञान जिनको प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञान माना जाता है का रूप धारण करता रहता है इसके मतानुसार ज्ञान अचल नही।

भगवान बुद्ध का स्मरण फिर गौडपादाचार्य को ही आता है यह पुन-पुन. स्मरण भगवान बुद्ध के प्रभाव को प्रगट करता है तथा कारिकाकार के सम्बन्ध और सम्बन्ध विच्छेद का स्मरण कराता है। परिशिष्ट मे विचार करेगे यह बुद्ध ने कहा कि नही कहा।

दुर्दर्शमिति गम्भीरमज साम्यं विशारदम्।
बुद्ध्वा पदमनानात्व नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥100॥

साधारण जनको साक्षात्कार होने मे अत्यन्त कठिन परम गम्भीर अजन्मा अत्यन्त समता युक्त, ज्ञानस्वरूप एक, नामरूप रहित, निर्वाण स्वरूप निजपद को जानकर अपने आपको यथाशक्ति नमस्कार करते है। नम्र होकर अपने आपमे अनुभव करते है। समस्त चित्त अशेष हुआ-हुआ आत्मा ही शेष रह गया है। मुझ अपने आपको पुन:-पुन: धन्यवाद है मुझ बुद्ध मे मुझ अवलोकितेश्वर मे मुझ द्रष्टा में मुझ आत्मा मे मुझ ब्रह्म मे मेरे अतिरिक्त और कुछ जानने को शेष नही रहा।

मैं ही मैं हूँ यहाँ पर गैर का कोई काम नही।
जते मुतलक मे मेरे रूप नही नाम नही॥

इस प्रकार यह माण्डूक्योपनिषद् गौडपादीय कारिका सहित का

हिन्दी व्याख्यान भाष्य समाप्त हुआ। यह नई दिल्ली से लिखना प्रारम्भ होकर [illegible] में परिपूर्ण हुआ। लेखक स्वामी विशुद्धानन्द परिव्राजक ॥ॐ॥

इस ग्रन्थ मे द्वादश श्रुति मन्त्र तथा दो सौ नो 209 कारिका है। (आगम) श्रुति प्रकरण म तेईस 23, वैतथ्य प्रकरण मे अडतीस 38, अद्वैत प्रकरण मे अडतालीस तथा अलात शान्ति प्रकरण मे सौ 100 कारिका है।

इति शम्